महाकवि शुतुरमुर्ग

महाकवि शुतुरमुर्ग

(सामाजिक विद्रूपताओं पर लिखे गये व्यंग्य)

तारादत्त 'निर्विरोध'

देवनागर प्रकाशन, जयपुर



प्रकाशक : देवनागर प्रकाशन, जयपुर

प्रथम संस्करण : 1988

मुद्रक : एलोरा प्रिन्टर्स, जयपुर

मूल्य : 30/-

यशस्वी हिन्दी साहित्यकार एवं
उदारमना
डॉ० मनोहर प्रभाकर
को
सादर

—तारादत्त 'निर्विरोध'

कुत्ते ने काटा

नामधारी निरीह प्राणी सड़क की बाईं पटरी पर
पलाया कुत्ता पटरी पर आया और उसने उसकी
गी चीखा-चिल्लाया-किन्तु सड़क पर आते-
नहीं की। सबने उसे पागल समझा। विवश हो
र के अस्पताल में गया जहां कुछ डॉक्टर नर्सों
गों ने उसकी पिंडली से गिरते हुए खून की
वह फिर चीखा-चिल्लाया तो एक डॉक्टर ने
ते हुए चौदह इंजेक्शन लगवाने की बात

र, भ्रष्टाचार, भूख, कर्ज, बेकारी, छल,
सत्ता की भूख, बेईमानी, गफलत, बोतल और
र वह अपनी पहले सी स्थिति में नहीं आया
नार से बहुत घूमा-फिरा, पर उसे वह कुत्ता



लोकतन्त्र को कुत्ते ने काटा

एक दिन लोकतन्त्र नामधारी निरीह प्राणी सड़क की बाई पटरी पर चल रहा था। तभी एक पगलाया कुत्ता पटरी पर आया और उसने उसकी पिंडली में काट लिया। प्राणी चीखा-चिल्लाया-किन्तु सड़क पर आते-जाते लोगों ने उसकी मदद नहीं की। सबने उसे पागल समझा। विवश हो लगड़ाता-सम्भलता वह समीप के अस्पताल में गया जहां कुछ डॉक्टर नर्सों से प्रेमालाप कर रहे थे। किसी ने उसकी पिंडली से गिरते हुए खून की ओर ध्यान नहीं दिया। जब वह फिर चीखा-चिल्लाया तो एक डॉक्टर ने उसकी दयनीय हालत समझते हुए चौदह इंजेक्शन लगवाने की बात सुझाई।

चौदह दिनों तक रिश्वत, भ्रष्टाचार, भूख, कर्ज, बेकारी, छल, नाइन्साफी, जुल्म, मक्कारी, सत्ता की भूख, बेईमानी, गफलत, बोतल और नारी जैसे इंजेक्शन लगवा कर वह अपनी पहले सी स्थिति में नहीं आया तो उस कुत्ते को मारने के विचार से बहुत घूमा-फिरा, पर उसे वह कुत्ता दिखाई नहीं दिया।

बाद में मालूम हुआ कि कुत्ता पूंजी नाम की शहरी और गैर सरकारी औरत की नाजायज औलाद है। वह लोकतन्त्रात्मक भाव-धारा के व्यक्तियों के बगलों पर बेधड़क आता-जाता है। उसका संबंध-सम्पर्क भले ही जन साधारण की मूल समस्याओं एवं आर्थिक विषमताओं से नहीं हो लेकिन बड़े बगले वालों से अधिक और नियमित है।

यह भी पता चला कि कुत्ते के काटने पर उसके पेट में इंजेक्शन लगाने वाले वे समझौतापरस्त लोग हैं, जो पूंजी के साए में पलकर अपने समाजवादी होने का स्वांग रचते हैं। हमने तय किया कि जब तक उसे पकड़कर मार नहीं देंगे तब तक घर नहीं लौटेंगे। हमने लोकतन्त्र से भी कहा कि वह अपने घर लौट कर आराम करे। जैसे ही हम कुत्ते को देखेंगे, नगरपालिका वालों की मदद से उसे पकड़वा कर उसका काम तमाम करा देंगे। पर हमारा दुर्भाग्य, दिन के ग्यारह बजे हमें वह कुत्ता

दिखाई दिया और उसने एक बंगले में शरण लेली। हमने बंगले के भीतर जाना उचित नहीं समझा और दरवाजे पर ही जम गए। कोई साढ़े तीन घण्टे बाद भी नहीं निकला तो हम बोर होकर कुढ़ने लगे। कुत्ते की खोज में मन और पेट दोनों की घंटियां बजने लगी। हमने बंगले में घुस कर एक कक्ष के बाहरी शीशे में से भीतर झांका। देखा, कुत्ता मेम साहब के पास बैठा कुछ खा रहा है और मेम साहब बड़े प्यार से उसके शरीर पर हाथ फेर रही है। वह कुत्ते को अपने से दूर करना नहीं चाहती थीं।

हमने बाहर आकर सिर पीट लिया। कुत्ता और मेम साहब। हमें यहां एक क्षण भी ठहरना अच्छा नहीं लगा, पर कुत्ते को पकड़ने की बलवती इच्छा ने हमें घर भी नहीं लौटने दिया।

तभी बंगले में से एक कार निकली। मेम साहब कार चला रही थीं और कुत्ता पीछे की सीट पर अधलेटा बैठा था। कार तेजी से निकल गई। हम कुत्ते को नहीं पकड़ सके और अपनी हिन्द साईकिल के पैंडिल मारते हुए किसी रेस्टोरेंट पहुंचे। सुना, हमारे पहुंचने से पहले वे दोनों कॉफी ले चुके थे और कहीं चल गए थे।

हमने गाड़ी को फिर मोड़ा और पैंडिल मारते हुए कचहरी आ गए। गेट पर कुछ लोगों ने कार का घेराव कर रखा था। मेम साहब की कार से हुए एक्सीडेंट पर कोसते हुए लोग कुत्ते को भी पीटने पर आमादा थे, लेकिन मेम साहब अपनी गलती नहीं मान रही थी।

कुत्ता भीड़ देखकर कार से कूदा और किसी खंदक में घुस गया, पर वह कहां और किसके पास गया, कोई नहीं जान सका।

हम कचहरी के गेट पर खड़े रहे, यह सोचकर कि कुत्ता निकले और हम उसे चाप लें। पांच बज गए। सब कर्मचारी बाहर आ गए। पर कुत्ता नहीं आया। हमने पूछताछ की, कुछ पता नहीं चला। कुछ देर बाद एक सज्जन बोले-'कुत्ता चितकबरा था?' 'जी हां, कुछ कलियाया और मोटा-सा भी।' 'उसके गले में पट्टा था?' 'जी हां।' 'भई हमने उसे राजस्व विभाग से निकलकर अल्प बचत की ओर जाते देखा था। फिर वह कहां चला गया, हमें पता नहीं।'

एक अन्य सज्जन बोले—'मैंने उसे शाम साढ़े चार बजे के करीब एक छोटे द्वार से निकल कर पंचायत एवं विकास में घुसते देखा था और उसके साथ कोई महिला भी थी।'

तीसरे सज्जन जो बाद मे बाहर निकले थे, कहने लगे—'आप जिस कुत्ते की खोज में हैं, वह कभी का यहां से जा चुका है। अब तो वह आपको रात में ही मिल सकता है।'

हमने उत्सुकता से पूछा—'कहा ?'

'कहीं भी।' हम लौटे तो गांधी नगर मोड़ पर वह कुत्ता खड़ा था। हमारी खुशी का ठिकाना नही रहा, पर वहां न कोई नगरपालिका का आदमी था न कुत्ते को पकड़ने की गाड़ी थी और न ही कोई शस्त्र था। शिकार को पाकर भी हम असहाय हो गए थे।

हमने चाय की दूकान वाले से कहा—'भाई, यह कुत्ता पागल है, उधर के किसी गांव का रहने वाला है और इसने एक आदमी को काट लिया है। आप मदद करें तो हम इसे पकड़ कर मार सकते हैं। दूकानदार कहने लगा, 'आपको गलतफहमी हुई है। मैंने इस कुत्ते को इसी सड़क पर रोज देखा है। यह पागल नही है। यह तो प्रिंसिपल के साथ घूमता है। यह पालतू है।'

हमने कुत्ते को सम्बोधित किया—'हे श्वानदेव ! हम बड़ी देर से आपका पीछा कर रहे हैं। आपको मारने पर आमादा है। अब आप ही बताइए, हम आपको कैसे मारे ?'

कुत्ते ने हँसते हुए कहा—'आपकी योजना गलत है। मुझे मारकर आप कुछ नहीं पा सकेंगे। बेहतर है जिसे मैंने काटा है वह भी किसी को काटले और कुत्तों की जमात मे शामिल हो जाए। ऐसा नही करें तो किसी डॉक्टर से अच्छे होने का प्रमाण-पत्र दिलवा दीजिए, उसे। मैं तो ब्लैकमेलिंग के लिए काटता हूं और मेरे काटने से कोई मरता भी नहीं।'

लगा, कुत्ता आदमी से बहुत नाराज है और कुत्तो की जमात बढ़ाने का इच्छुक है। उसे कुत्ते ही पसन्द है, आदमी तो किसी भी स्थिति मे नही। ☐

नहीं बर्दाश्त करना जानवर का आदमी को

एक हड़काया हुआ कुत्ता सड़क पर उछलकूद मचा रहा था। वह जब भी किसी आदमी को देखता, काटने की कोशिश करता। भों-भों करके उसकी ओर लपलपाता, किन्तु आदमी के पत्थर उठाते ही आंखें तरेरता और दुम हिलाता सामने की झाड़ी की खंदक में जा घुसता। थोड़ी देर बाद फिर बाहर आता और हर किसी को काटने की कोशिश करता।

सड़क की एक ओर की दूकानों पर बैठे चाय पीते लोग कहते—'साले की मौत मण्डरा रही है, दब-कुचल गया तो जान से हाथ धो बैठेगा। आदमी आते-जाते, सड़क से गुजर जाते और सड़क फटी हुई आंखों से उस कुत्ते की हरकतें देखती रहती।'

कुत्ता भागकर एक शिक्षा शास्त्री की कोठी में जा घुसता और उसके साथ कॉफी पीता। कभी रिरियाकर उससे दया की भीख मांगता और कभी आंखें चढ़ाकर ब्लैकमेलिंग की कोशिश करता। बेचारा शिक्षा शास्त्री उससे पीछा छुड़वाने के लिए उसके सामने रोटी के टुकड़े डाल देता और कुत्ता आधी रोटी के टुकड़ों को मुंह में दबाये, दुम उठाए चुपके से कालोनी के पिछवाड़े से दूसरी ओर निकल जाता। शिक्षा शास्त्री खिसियाया-सा जोर से आवाज लगाता, 'अरे कोई सुनता है, दूसरी कॉफी बनाकर लाओ। वह काफी तो कुत्ते को भी नकाफी रही, वह गटागट पी गया।' फिर नाक सिकोड़ कर मन ही मन झुंझलाता, मैंने भी किस बला को पाल लिया, साला रोज चला आता है।

ऐसे ही किसी दिन कुत्ता कचहरी में घुस आया। जब सबने भगा दिया तो ऑफीसर्स में पहुंचा, लेकिन जब किसी ने घास नहीं डाली तो अपना-सा मुंह लिये बाहर बैठे वकीलों की कुर्सियों के नीचे से घुसता-निकलता सामने रखे खाली स्टूल पर बैठा। बोला—'आदमियों की जमात

मे मैं अकेला कुत्ता हूं इसलिए हुजूर मुझे भी थोड़ी सी जगह दीजाए।'
लेकिन लोगों ने उसकी एक नहीं सुनी और उसे एक कोने में खदेड़ दिया। फिर क्या था, कुत्ते ने प्याऊ के पास अपनी जगह बनाली।

एक शाम वह रेलवे के पास देखा गया जहां उसके चारों ओर काले, भूरे, चितकबरे, लाल और सफेद कुत्ते घेराबन्दी किए हुए खड़े थे, किन्तु कोई भी उस पर झपट नहीं रहा था। उन कुत्तों में कोई बड़े व्यापारी का, कोई चिकित्सक, वकील, नेता या शिक्षाविद् का कुत्ता था तो कोई किसी अधिकारी या इन्जीनियर का। पालतू कुत्ते उसे कैसे मारते। कुत्ते ने मौका देखा और वहां से खिसक लिया।

आदमियों ने सोचा दूसरे मोहल्ले के कुत्ते तीसरे मोहल्ले के कुत्ते को बर्दाश्त नहीं करते, लेकिन पालतू कुत्ते पालतू कुत्ते को कभी नहीं मारते। पालतू कुत्तों में बड़ा संगठन है, भाई चारा है। वे अलग होकर भी हर मायने में साथ हैं। भला वे आपस में क्यों मार-काट करने लगे? कुत्ते को तो आदमी को ही मारना होगा। आदमियों को कुत्ता काट सकता है, लेकिन वे कुत्ते से बचे रहना ही श्रेयस्कर समझते हैं। वे जानते हैं कि यदि वे आगे आए और कुत्ते से सामना हुआ तो वह उन्हें भी काटेगा। इस आफत में कौन फंसे? कुत्ता किसी को काटता है तो काटे, उन्हें क्या? स्वार्थ से उनकी आंखें बन्द रहीं।

आदमी नजर बचाने लगे तो कुत्ता नये आदमियों को काटने लगा।

शिक्षा शास्त्री बोले—'भई, मैंने तो जिंदगी में सभी का भला किया है, आदमियों का भी, जानवरों का भी। अब जब आदमी मुझे भूल गए हैं तो अपनी प्रतिष्ठा बनाये रखने के लिए जानवरों के साथ हूं। आदमियों मे न सही, जानवरों में तो इज्जत रहे।'

अभियन्ता कहने लगे—'यार, कुत्ता है। रोटी का टुकड़ा डालो और पिंड छुड़ाओ। जानवर से कब तक लड़ोगे?'

वकील साहब ने सुझाव दिया—'हमारी तो सारी वकालत आदमी और आदमी के लिए है। कुत्ते पर मुकदमा चलाओगे तो वकालत किससे

करवाओगे ? और जानवर पर कुछ हुआ भी तो मिलेगा क्या ? भूखा है, सारी जिंदगी मन की भूख लिये दरवाजे के सामने खड़ा रहेगा।'

चिकित्सक ने परामर्श दिया—'कुत्ता काटेगा तो चौदह इन्जेक्शन लाने पड़ेंगे या उसे मारना पड़ेगा। बेहतर है उसके गले में पट्टा डालदो। घर के बाहर पड़ा रहेगा।'

समाजसेवी दूरदर्शिता प्रकट करने लगे—'आदमी की बात होती तो हम समस्या का निदान खोजते। जानवर के लिये तो हमारी समाजसेवा कारगर नहीं है। और यह कुत्ता तो वर्षों से वैसे ही सभी को काटता रहा है। हमें भी काट चुका है। यह मूर्ख भी है और चालाक भी। आपको ऐसा सामंजस्य शायद ही कहीं देखने को मिला हो। अच्छा है इसे सोचा ही न जाए। हार-थक कर सो जायेगा एक दिन वाहन के नीचे।'

हम विकल्पहीन होकर घर लौट आए। दूसरे दिन मालूम हुआ रात किसी वाहन से कुचलकर कुत्ता मर गया। तब लगा, जानवर चाहे आदमी को बर्दाश्त नहीं करे, लेकिन जानवर को आदमी जरूर बर्दाश्त करता है। यह बात सड़क से गुजरने वाले वाहन नहीं जानते। वे अपनी तेज गति में न आदमी को बर्दाश्त करते हैं और न ही जानवर को।

कुत्ता वाहन की चपेट में आकर मर गया, लेकिन आदमी के भीतर का ज़मीर मरा हुआ है। हो सकता है कल कोई दूसरा कुत्ता हड़काने लगे, आदमी को बर्दाश्त नहीं करे और आदमी की नियति जानवर से भी बदतर बन जाए।



बिकाऊ हैं एक समाजसेवी पान के बीड़े में

आज वे फिर किसी पिटे हुए मोहरे की तरह मुंह लटकाए, आंखों में भूख और अधरों पे प्यास लिये एक उदासी जीते हुए सामने आ बैठे। देखा, एक आदमीनुमा कोई चीज पचास रुपये के जुगाड़ के लिए धरना दिये हुए बैठी है। लिजलिजी-गिजगिजी-फुसफुसी फफूंद-सी। ऊपर से औरताना चेहरा और नीचे से सठियायी बुद्धि के साठसाला बूढ़े की मरी हुई देह तिस पर समाजसेवी होने का स्वांग, दावा, अखबारबाजी करने का शौक, ब्लैकमेलिंग का अभ्यास और अपने में चुगलियों के शब्दकोश। आदतन बदतमीज, बेमुरव्वत और जाहिल। कहने लगे 'मेरी जीविका तीस वर्षों से भिक्षावृत्ति पर ही टिकी है और मांगताग कर पेट भरना हमारा पुश्तैनी काम रहा है। जो मांगने पर भी नहीं देता उसके विरुद्ध अनापशनाप लिखना, अधिकारियों को धमकियां देना और उनकी शिकायतें करवाना ही मेरे कमाने का जरिया है। आप देखते नहीं, मैंने कुछ लिखा नहीं और लेखक, कुछ पढ़ा नहीं और पत्रकार एवं कुछ किया नहीं और समाजसेवी हूं मैं तथा मैंने बिना काम कमाना सीखा है।'

बड़ा बुरा लगा, लेकिन क्या किया जाए ऐसी घटिया चीज के मुकाबले ? हमारी जनसम्पर्की नौकरी ने यही सिखाया है कि मनचाहे से मनचाही और मनचाहे के साथ मनचाही बातें करो। भले-बुरे सभी को आदर दो अन्यथा हमारा ऐसे लोगों से क्या वास्ता, क्या सरोकार ? उन्होंने खुद बताया कि वे अन्तःपुरों में औरताना लिबास में जाया करते थे और उनका सम्पर्क कई जिलों की नादिर सभाओं से भी रहा। वे बिना काम-काज किए खाने और चन्दा-चिट्ठा करने के आदी रहे। उन्होंने चौवन कौमों के कस्बे में रहकर चौवन तरह की चुगलियां सीखी जिन्हें वे बारम्बार

मुनाते रहे। दो बड़ी हवेलियों के बावजूद वे बेघर और सब तरफ से धन बटोरने के बाद भी निर्धन कहलाने में ही सुख अनुभव करते रहे। गोया साम, दाम, दण्ड, और भेद से लोगों से कुछ प्राप्त करना ही उनके जीवन का मकसद रहा।

प्रथम परिचय में उन्होंने अपना नाम वर्णशंकर बताया था किन्तु कुछ वर्षों बाद वे वेणेश्वर और फिर भक्तेश्वर लिखने लगे। लेकिन लोग उन्हें भूखेश्वर के रूप में जानते हैं। यों वे काफी सम्पन्न हैं। लाखों के वारे-न्यारे किये हैं उन्होंने और येनकेन-प्रकारेण उनकी घुसपैठ यहाँ-वहाँ भी रही है। लेकिन मन की भूख अभी मिटी नहीं। अभी भी वे गोंद के लड्डू खाने के शौकीन हैं, किसी साजिश से जुड़े रहने के मोहरे भी।

एक मौन को तोड़ते हुए बोले—'हमें कोई कुछ दे देता है तो हम उसे 'बड़ा' घोषित करते हुए सकुचाते नहीं हैं और कोई टाल देता है तो हम उसकी खिलाफत करते हुए अघाते भी नहीं। आपके पास भी इसीलिए आए हैं कहीं से कुछ दिलवाइये। आप अच्छे पद पर हैं और आपकी चलती भी है।'

हमें हँसी भी आई और स्थिति का बोध भी हुआ। फिर उनके आने का मकसद समझ में आया तो लगा, हम गलत जगह आ बैठे। पुलिस के महकमे में होते तो उनकी पूरी मेवा करते और किसी निर्माण महकमे में होते तो प्रयत्न करते उन्हें कुछ मिल जाए तथा उनकी भूख पीढ़ी दर-पीढ़ी बनी रहे ताकि जो गलत तरीके से अर्जित किया गया है वह सब चौपट हो जाये। किन्तु हम ठहरे साहित्योपासक, हमारे पास तो सहानुभूति और दया ही है देने के लिए। हमने उनके आंसू पोंछे और उन्हें दशहरे के मेले में रावण का पार्ट दिलवाकर एक सौ रुपये से उपकृत किया, किन्तु क्या देखते हैं वे कुछ दिन बाद ही कवि रूप में अवतरित हो गये। बोले—'अनाथ आश्रम की सहायतार्थ कवि सम्मेलन हो रहा है। हम अनाथ हैं। हमें भी आर्थिक सहायता दिलवाइये। हमने समाज कल्याण अधिकारी से कहा कि गरीबों को दिए जाने वाले अनाज में से कुछ समाजसेवीजी को भी दें ताकि वे भूखे पेट नहीं रहें।

समय गुजरा और एकीकृत ग्रामीण विकास कार्यक्रम में गरीबों का चयन होने लगा तो देखा पंक्तिबद्ध आदमियों में भक्तेश्वरजी भी खड़े हैं। कहने लगे, 'पिछड़े वर्गों में ही क्या, गरीब तो किसी भी जाति में हो सकता है। संतानविहीन हो तो करोड़पति भी गरीब है और असमय की संतानें हों तो हम जैसा ब्राह्मण भी।'

देखा, एक भूख राजतन्त्र में पलकर जनतन्त्र के रास्तों से चलकर 'तन्त्र' और 'जन' के बीच दुर्वासा की भूख की तरह रंग बदल रही है। क्रोध भी आया और ऐसी विडम्बना पर दुःख भी हुआ। भूख ने आदमी को किस कदर जानवर बना दिया, यह देखकर मन व्यथित हो उठा। हम शिविर से लौट आए।

भक्तेश्वर के कारनामों की चर्चा पूरे जिले में बेतार के तार की तरह फैली हुई थी। लोग उन्हें देखकर वैसे ही मुंह मोड़ लिया करते थे जैसे कोई अपशकुन को देखकर। लोग सोचते थे कि मिलेंगे तो कुछ मांगेंगे समाज सेवा के नाम पर और नहीं देंगे तो गालियां बकेंगे किसी दूकान पर बैठकर। इज्जतदार लोग उन्हें वैसे ही ताड़ते रहे जैसे पुलिस कर्मियों को। कोई भी नजर मिलाने को तैयार नहीं हुआ, तो भक्तेश्वरजी देश भ्रमण के लिए निकले और बम्बई, कलकत्ता, डिब्रूगढ़ और हैदराबाद के उद्योग-पतियों से धर्मशाला, कुएं, जातउड़ले, व्याह और मृत्यु संस्कार के लिए दान-दक्षिणा ले आए।

समय बदला तो उनका परिवार भी चहचहाने लगा और गांठ में दाम गिरे तो चेहरा बड़ा हो गया। ठग विद्या उन्हें विरासत में मिली थी और उसी के दमखम पर वे सरकारी महकमा के लोग टटोलने लगे। पांच रुपये की टिकट मे पचास रुपए का खेल और पचास रुपए में दुनिया घूमने वाले भक्तेश्वर के पौ बारह पच्चीस हो गए। वे समझ गए कि सुखी वे हैं जो निठल्ले रहकर दूसरों की जेबें काटते हैं तथा मूर्ख वे हैं जो कामकाजी जिंदगी में पिसते हैं।

शहर में कव्वाली का कार्यक्रम था। मशहूर कव्वाल आए थे और हाल खचाखच भरा था। मंचस्थ कलाकारों की ओर दृष्टि फेंकी

तो भक्तेश्वरजी भी दिखाई दिये। हमने संयोजक से पूछा, 'भाई इस कार्यक्रम में उनकी उपस्थिति के माने? वे कोई कव्वाल नहीं।' संयोजक ने बताया, 'बीस रुपये पर तालियां बजाने के लिए बिठलाया गया है उन्हें।' 'भाई वाह, ऐसी समाज सेवा तो शायद पहली ही हो!' देखा, भक्तेश्वरजी ताली पटके के साथ नाच भी रहे हैं और बहुरूपिये-सा अभिनय भी कर रहे हैं। संयोजक ने बताया कि इस सबके लिए उन्हें कुछ और दिया जाएगा।

कमाल है, एक आदमी कभी समाजसेवी होता है, कभी कवि-कलाकार और कभी पत्रकार साहित्यकार और बस चले तो ताली पटकेदार भी। गरज यह कि रुपया बटोरना है चाहे जरिया कुछ भी और कैसा भी हो। वे रोने के पैसे भी कमा सकते हैं और कचहरी में गलत गवाहियां देकर भी पेट भर सकते हैं। एक ज्योतिषी ने घोषणा की कि वे छह माह बाद नहीं रहेंगे तो बलि के बकरे जैसी शक्ल बनाकर बोले—'अब तो कुछ दिलवा दीजिए सौ-पचास ही सही। कल नहीं रहा तो कोई दूसरा मांगने नहीं आएगा आपके पास।'

हमने कहा, 'भाई आप इतना रुपया जमा करके क्या करेंगे? बस करो, भूख की भी कोई सीमा है। आदमी के साथ लाज-शरम भी तो है।' बोले, 'अच्छा तो एक पान ही खिलवा दीजिए, जर्दे का। कुछ तो कीजिए हमारे लिए।' हमने झट से एक अठन्नी फेंक कर चपरासी से कहा—'मुंह भर दो समाजसेवीजी का पान से, और पिण्ड छुड़वाओ।'



गधों का मेला : आदमी आज भी अकेला

जयपुर जिले की सांगानेर तहसील की लूणियां ग्राम पंचायत के भावगढ़ बंध्या ग्राम में वर्षों से प्रतिवर्ष दशहरे पर आसोज वदी सप्तमी से ग्यारस तक गधों का मेला आयोजित किया जाता है। एशिया में गधों के सबसे बड़े इस मेले मे गधों, घोड़ों एवं खच्चरों के सिवा कोई दूसरा पशु नहीं लाया जाता और गधो की खरीद-फरोख्त करने वाले कश्मीर, लद्दाख तथा कन्याकुमारी तक से यहां आते हैं।

यों तो देश के उज्जैन, अलीगढ़ एवं भरतपुर आदि स्थलों पर छोटे पशु मेलों मे भी गधे-घोड़े लाए जाते हैं, लेकिन इस मेले जैसी बात उनमें कहां? यहां तो एक ढूंढ़ो हजार मिलते है और हजारों मे भी कोई मारवाड़ी गधा, कोई काश्मीरी, तो कोई लद्दाखी तथा आसपास ढूंढ़ो तो उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, पंजाब, हरियाणा, उड़ीसा, आसाम, राजस्थान और अन्य इलाकों के गधे भी मिल जायेंगे। गधों के इस मेले में उनके बेचान से अधिक महत्वपूर्ण बात है उनकी पहचान की। पहले मेले में ढाई हजार रुपये तक के गधे बिकते थे लेकिन गधों के भाव बढ़ जाने से अब महगे दामों में बेचे जाने लगे हैं। अच्छी किस्म के इतने गधे एशिया महाद्वीप के किसी भी मेले में एकत्रित नहीं किए जाते। इन गधों की तुलना में जयपुर के आसपास के इलाकों के गधे कमजोर देखे गए हैं, लेकिन गधों का क्या, वे स्वस्थ और अस्वस्थ दोनो स्थितियों मे गधे है और उन्हे आदमी कभी नहीं कहा गया, हालांकि वे अनुशासनबद्ध, आज्ञाकारी और कर्त्तव्यनिष्ठ रहे हैं।

गधा बनाम आदमी

गधों की सूरत ही कुछ ऐसी है कि आदमी उन पर तरस खाकर भी उन्हें किसी बोझ से मुक्त नहीं करते और ऐसे निरीह प्राणी के नाम से

भौंकते हैं, कोई एक भी गधे की संज्ञा में रहना पसन्द नहीं करता। और तो और, निरे मूर्ख, उद्देश्यहीन और निठल्ले-मसखरे व्यक्ति भी और सब कहाना पसन्द करते हैं, गधा नहीं। अपने लिए गधे का विशेषण सुनकर वे अपने को 'हीन' अनुभव करते हैं। भले ही गधे से भी बदतर हों, आप किसी व्यक्ति को गधा कहिये, वह बुरा मान जाएगा और सौ मन का मुंह बनाकर मन में कोई गांठ बांध लेगा। यह तो बेचारे गधे ही हैं कि आदमी के साथ जोड़े जाने पर भी मौन हैं, उन्हें भी आदमी से सख्त नफरत है किन्तु वे उसे जाहिर नहीं करते और आदमी कहे जाने वाले निर्लज्ज तथा निर्मम प्राणी का बोझा चुपचाप ढो लेते हैं। आदमी इतना चतुर है कि गधे की जिन्दगी जीने के बावजूद अपने को आदमी ही कहता है, गधा नहीं।

असलियत यह है कि गधों की जमात में आदमी खोज निकालना बड़ा कठिन कार्य है और आदमी नामधारी प्राणियों मे गधों को खोज पाना अत्यन्त सरल। फिर भी, आदमी आदमी ही है, गधा गधा ही।

गधों का मेला उस समय पूरे उभार पर होता है जब गधा दौड़ के क्रम में घुड़दौड़ होती हैं। रेंकने वालों में ढेंचू ढेंचू की बजाय पावों की टापों की ध्वनियों के बीच धूल में बिम्ब उभरते हैं, प्रतिस्पर्धा और विजय की भाव मुद्रायें गधों के चेहरे पर भी देखी जाती हैं। सो, दूसरे गधे भी सजसंवर कर आ गए हैं मैदान में। तभी गधों का एक व्यापारी कहता है, 'इस मेले के उद्घाटन के लिए कोई मन्त्री नहीं आया। इसलिए जनतन्त्र का हामी मेरा गधा बुढ़ा गया। अगली बार कोई जवान गधा लाऊंगा जिसके तौर-तरीके भी आधुनिक हों।

मिनिस्टर गाड़ियां

शेखावाटी में तो गधा गाड़ी को लोक भाषा में मिनिस्टर गाड़ी कहा जाता है और यहां आदमी का सारा बोझा मिनिस्टर गाड़ियां ही ढोती हैं। यों भी जीवन और साहित्य में गधो को बखूबी लिखा गया है। प्रख्यात कथाकार कृशनचन्दर की 'गधे की आत्मकथा' और 'गधे की वापसी' जैसी कृतियों का कोई सानी नहीं। हास्य-व्यंग्य कवियों ने भी गधे को

कविता का विषय बनाना श्रेयस्कर समझा। एक कवि ने लिखा है : 'तेरी ही सरकार गधे, तुझ पर तनमन बलिहार गधे, तू कर ले मुझसे प्यार गधे।'

गधों के सम्बन्ध में अनेक किस्से यहां-वहां प्रचलित हैं जो सुने-सुनाये जाते हैं और चुटकियों के साथ व्यापारी मेले का मजा लूटते हैं। गधे भी नाम के ही गधे हैं, आदमी की तरह निठल्ले और कामचोर नहीं। यह उनकी शराफत ही है कि वे बोझा ढोकर भी गधे हैं और आदमी की सरासर बेईमानी या हिमाकत कि वह बोझा ढोकर भी गधा नहीं अथवा गधा कहाने को तैयार नहीं।

दिल लगा""

मेले में ग्रामीणों की भीड़ से घिरे गधों को देखकर मानस में कई बातें कौंधती हैं। इन गधों की क्या जमात, आदमी तो इनसे भी बड़ा गधा है और इनके कैसे धर्म, जाति, वर्ण या सम्प्रदाय, यह सब बातें तो आदमियों तक हैं। गधे तो धर्म निरपेक्ष राज्य के ऐसे सयाने पशु हैं जो दूसरे पशुओं और आदमियों की तरह अपने मालिकों को धोखा नहीं देते और मालिक के बताए पथ का अनुसरण करते है।

आदमी के प्यार में छल हो सकता है, गधे का गधी के प्यार में नहीं। रेंक-रेंक कर ही सही, वे जिसे प्यार करते हैं, मन से चाहते हैं। कहावत भी है कि दिल लगा गधी से तो परी भी क्या चीज है?

गधे की प्रतीक्षा

मेले में आये एक व्यापारी ने बताया कि दो गधे अन्तरंग मित्र थे। एक गधा धोबी के यहां था दूसरा कुम्हार के यहां। एक दिन कहीं मिले तो बतियाने लगे। धोबी के गधे ने मौज-मस्ती में कहा—'बड़े मजे की छन रही है यार। हर सुबह कपड़े लादकर नदी पर चला जाता हूं और पिकनिक स्पॉट देखता हूं। मेरे यहां ड्यूटी की पाबन्दी जरूर है मगर किसी तरह की जालसाजी नहीं। देखते नहीं कितना मोटा हो गया हूं और एक तुम हो कि जैसे थे, वैसे भी नहीं। अरे भाई कोई दिक्कत हो तो मेरे यहां ट्रांसफर करवा लो।'

कुम्हार के गधे ने जवाब दिया, 'मैं अपने मालिक के कारण 'एजल्ड' हूं। सारा बोझा लादकर भी वह पूरा खाना नहीं देता और सारा बजट अकेला ही डकार जाता है।'

'छोड़ क्यों नहीं देते वह नौकरी ? हमारे यहां चले आओ, पोस्ट भी वेकेन्ट है और....।'

'नहीं यार, वह जब कभी अपनी लड़की से नाराज होता है तो उसे कहता है कि यदि तूने फिर वैसा नहीं किया तो मैं तेरी शादी इस गधे से कर दूंगा। बस, मैं इसी विश्वास और प्रतीक्षा में यहां टिका हूं कि वह कभी अपनी बात पर अमल करे और....।'

गधों के दर्शन को ग्रामवासी बड़ा शुभ मानते हैं। कहते हैं यदि कोई गधा बाईं ओर से निकल जाए तो समझो किस्मत ही खुल गयी और कोई गधा सामने खड़ा हो तो बिगड़ा काम बन जाता है। एक अधिकारी ने गधो के मेले का उद्घाटन किया और वह दूसरे ही दिन बड़ा अधिकारी बन गया। एक प्रत्याशी ने गधे के पाव छूकर इन्टरव्यू दिया और सलेक्ट हो गया। पिछले दिनो बीजापुर मे आयोजित गधों की शादी मे सैकड़ों आदमी बाराती थे और शादी इस मान्यता पर की गई थी कि इससे सूखा पीड़ित बीजापुर पर दया होगी। गधे युगल वर-वधू की तरह सजाए गए थे और इससे पहले उन्हें नगर की मुख्य बस्तियों मे घुमाया गया था। कहते हैं 'गर्दभराज की जय' की ध्वनि के साथ ही वर्षा की झड़ी लग गयी।

गधे की आपसी

गधो के वंश-विस्तार और विकास के फलस्वरूप देश में उनकी संख्या काफी बढ़ गयी है। आदमी आदमियो की जमात मे भी अकेला था, अकेला है। गधे संगठित होकर ढेंचू ढेंचू करके अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए मनचाहा कर रहे हैं और आदमियों के संगठन टूट रहे हैं या आदमी गधेपन के कारण गधों के साथ रहने मे ही सुख अनुभव कर रहे हैं।

एक गधा जो पहले कभी येन-केन-प्रकारेण आदमियों की जमात में घुस आया था और बाद में किसी कारणवश जमात से निष्कासित कर दिया गया था, फिर लौट आया है। लेकिन यह गधा नहीं है। आदमीनुमा गधा है और आदतन गधा है। ताज्जुब यह कि न इसे आदमी पसंद करते न गधे। गधा भी ऐसा है कि संस्कारविहीन, फूहड़ और जटिल।

कल एक गधा कहने लगा 'अच्छा हुआ नगर में एक गधा तो और बढ़ा।' लेकिन जब बताया गया कि वह निरीह प्राणी नहीं है तो दूसरे गधों ने विरोध किया—'हमें गधा चाहिए असली-नकली नहीं।'

बाणभट्ट की औरताना आत्मा

सातवीं शताब्दी के बाणभट्ट के सम्बन्ध में यह बात विशेष रूप से प्रचारित की गयी कि वह अव्वलदर्जे का गप्पी, घुमक्कड़ और आवारा कहे जाने वाला ऐसा प्राणी था जो औरताना लिबास में अन्तःपुर में पहुंच कर महिलाओं को बाहर निकाल लाया करता था। डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी विरचित 'बाणभट्ट की आत्मकथा' उपन्यास का नायक 'बाण' निम्न जाति की निउनिया उर्फ निपुणिका से उतना ही प्रेम करता था जितना राजसी ठाठबाट में पली भट्टिनी से। वह भट्टिनी के प्रति श्रद्धावनत होकर और निपुणिका की प्रेम-शक्ति को समझते हुए भी दोनों के बीच का कोई रास्ता नहीं निकाल पाया। उसे दोनों प्रेमिकाओं के अनुराग की आग में जलते हुए एक विद्रोह के साथ अलग-थलग-सा रह जाना पड़ा और जब बाण नहीं रहा तो उसकी आत्मा औरताना लिबास में यहां-वहां और न जाने कहां-कहां भटकती रही।

एक दिन वह अनायास ही दूसरे विश्वयुद्ध के हामी और अनायक की इमेज कायम करने वाले नामी गिरामी हिटलर से सम्पर्कित हुई और उसने नाजियों के बीच पुरुष का बाना पहना। यह बात सन् 1939 ई. की किसी तारीख की रही होगी, हिटलर ने बाण की औरताना आत्मा को इस तरह ग्रहण किया कि दुनिया में झूठ और फरेब की बातें लोग पसन्द करने लगे।

जब युद्ध के दौरान हिटलर अचानक गायब हो गया तो उससे बिछुड़ी हुई उसकी आत्मा जर्मनी की सड़कों पर अपनी जैसी कोई दूसरी आत्मा तलाशने लगी। संसार में झूठ का कोई सरपरस्त नहीं रहा। तब सृष्टि में एक ऐसे प्राणी का प्रादुर्भाव हुआ जिसके ढाई फुटी धड़, एक फुट टांगें और एक फुट में सिर तथा गर्दन थी। इस विचित्र प्राणी को देखने के लिए सुदूर देशों के निवासी भी आए थे और वह बनमानुष की तरह उछलकूद कर रहा था।

काफी दिनों बाद वह ऐसे पद पर आसीन हुआ जहां से कुछेक ना समझ किन्तु अवसरवादी, पदलोलुप, अयोग्य और नपुंसकों को पतनोन्मुख करने के लिए सक्षम था। वह काफिर हो गया। तभी हिटलर की आत्मा ने उसके शरीर में प्रवेश किया और वह समय की नब्ज पकडते हुए दूसरी-तीसरी किस्म के लोगों की पत्नियों की कलाइयां टटोलने लगा। देखते ही देखते वह अन्तःपुर से नहीं, आसपास के स्थानों से औरतें उठाने लगा।

वह घिनौने व्यक्तित्व का किन्तु स्वय द्वारा सम्मानित व्यक्ति जीवन जीने की नाटकीयता से जुड़कर चमचे बनाने वाली फैक्ट्री का प्रधान प्रबन्धक क्या बना, उसने निहायत बेहूदे लोगों को फोरमेन जैसे पदों पर लगा दिया। जब वह अमुक-अमुक व्यक्ति के घर पहुचता, वहा से फैक्ट्री में फोन करके वर्णशंकर को बताता मैं यहां बैठा हू और उसकी वह नाजायज सतान बात को प्रचारित कर देती। बाद मे कानाफूसी की बात बेतार के तार की तरह सर्वत्र फैल जाती और सम्बन्धित व्यक्ति कसमसाकर रह जाता। दूसरे दिन ऐसा ही कुछ दूसरे किसी व्यक्ति के साथ होता। विचित्र प्राणी उस व्यक्ति की अनुपस्थिति में उसके घर पहुंचता और उसकी पत्नी से कहता 'इधर से गुजरा था, चला आया। आप कॉफी नहीं पिलायेंगी?' या 'आप अच्छा खाना बनाती हैं, भूख लगी तो चला आया।' अथवा 'आपको देखे काफी दिन हो गये थे। सोचा, कुशल-क्षेम ही पूछता चलूं।'

और शॉल की तरह शालीनता ओढे हुए बेजुबान-सी वह शिष्ट महिला नहीं चाहते हुए भी उसको आदर देती और तभी वह वहीं से वर्ण-शंकर को फोनाता-आज मैं यहां हूं और तत्काल फैक्ट्री मे कार्यरत चमचे उस महिला के साथ विचित्र प्राणी का नाम जोड़कर फिर कोई मनगढन्त कथा प्रचारित कर देते। उन दिनों फैक्ट्री में चमचों के साथ गासिप भी तैयार किए जाते थे। यह कार्य वर्णशंकर की पत्नी बेगम खुरशीद किया करती थी।

एक दिन हमने उस विचित्र प्राणी को भीड़ से घिरे और किसी महिला की चप्पलों से पिटते देखा। लोगों ने भी उसकी ऐसी मरम्मत की कि कई दिनों तक अस्पताल की तारीखें गिनता रहा। बात ऊपर पहुंची

तो वह पदच्युत भी कर दिया गया। फिर सुना गया कि जब वह किसी कोठी से निकल रहा था, किसी कुत्ते की आत्मा ने उसके शरीर में प्रवेश किया और वह हड़किया गया।

कुछ दिन गुजरे, दिल्ली में कनाट पैलेस के निकट किसी कार की चपेट में आकर वह जिंदगी से हाथ धो बैठा और उसकी आत्मा यहां-वहां चक्कर लगाती रही। सुना यह भी गया कि वह मरने से पूर्व अपनी आत्मा को किसी कवि के सुपुर्द कर गया जो सब्जी के थैले में आत्मा को भरकर कभी चांदनी चौक में, कभी पटेल नगर में और कभी शाहदरा में देखा गया।

वह आत्मा अपाहिजों की शक्ल में भी दिल्ली जंक्शन पर मुसाफिरों से पूछती देखी गयी 'मेरा क्या होगा?' 'अब मेरा क्या होगा?' एक मुसाफिर गलती से उस आत्मा को साथ ले आया और तब से वह मन की भूख लिए सरकारी दफ्तरों में चक्कर काट रही है। एक दिन वह एक फूहड़ आदमी के शरीर में प्रवेश कर गई और वह आदमी सभी को काटने लगा है। काटने की प्रक्रिया में वह कुत्तेनुमा आदमी रह गया।

लोग जब भी पूछते हैं, 'बाण भट्ट की वह आत्मा कहां गयी?' और नगरवासी बताते हैं—'वह कुत्ते की शक्ल में बाजारों की सड़कों पर घूम रही है।'

◻

ये घुसपैठिए साहित्यकार

तब साहित्य के नाम पर कुछ और ही लिखा जाता था, अब कुछ और ही लिखा जाता है। मगर जब कुछ नहीं लिखा जाएगा, उस समय अब और तब जैसी बातें नहीं होंगी।

कहते हैं, साहित्यकार पैदा होते हैं, उनमें लेखन-सृजन की प्रतिभा ईश्वर प्रदत्त होती है और वे जो लिखते हैं, उसका सम्बन्ध देशकाल और एक समाज विशेष से सीधा होता है। तभी तो साहित्य को 'समाज का दर्पण' और 'देश का मानचित्र' कहा गया है।

मगर इन तथ्यों को अब नहीं स्वीकारा जा सकता। हम जानते हैं साहित्यकार पैदा नहीं होते, पैदा किए जाते हैं। हम जानते हैं, साहित्य लिखा नहीं जाता, लिखवाया जाता है। यदि ऐसा नहीं होता तो साहित्य की विधाओं में, कथा रूप में गल्प, आख्यायिकाओं और कहानी के बाद अकहानी, मनरही और अनलिखी कहानी नहीं होती। कविता के क्षेत्र में छन्दबद्ध काव्य रचना के बाद मुक्त छन्द, नई, प्रयोगवादी, ताजी, अकविता और मात्र रंगों रेखाओं की गूंगी कविताएं नहीं होतीं, गीत के बाद प्रगीत, नवगीत, आज का गीत और अगीत जैसी गीत विधाएं नहीं होतीं, निबन्ध, लेख और गद्य-गीत के बाद परिचर्चाएँ, टिप्पणियां, सम्मतियां जैसी खानापूर्तियां नहीं होतीं। मगर समय की बात, आज लंगड़ी-कहानी और-लंगड़ी कविता पत्र-पत्रिकाओं में वैसे ही चल पड़ी हैं जैसे गणित में लंगड़ी भिन्न।

स्थिति यह है कि आप जो लिखते हैं, उसे ही साहित्य मान लिया जाता है और अच्छे-बुरे साहित्य के मापदण्ड नारों-आन्दोलनों और घेरों से अपंग हो गए हैं। आज लिखने में जोर नहीं आता, जोर तो साहित्यकार बनने व कहलाने में आता है और जब आप साहित्यिक रूप में येनकेन प्रकारेण पुज जाते हैं, स्वीकार लिए जाते हैं, तब आपने क्या लिखा है, यह

कोई नहीं देखता। और तो और, पाठक वर्ग आपके साहित्य को पढ़े बिना ही आपको स्तरीय, श्रेष्ठ, सृजनशील और प्रतिभा सम्पन्न साहित्यकार घोषित कर देता है।

और यह सत्य है, आजकल पाठक लेखकों के नामों को पढ़ते हैं, रचनाओं को नहीं। श्रोता ऐसे गीतकारों के कंठों पर रीझते हैं, जो कविता से बहुत दूर होते हैं।

मैं एक ऐसे कवि से परिचित हूं जिसकी एक ही कविता देश के कवि-सम्मेलन से लेकर ब्याह शादियों तक में सुनी-सुनाई जाती रही है और कवि को उसी एक भाषा विशेष की कविता पर मनचाहा सम्मान मिला है। यों सरकार में पदाधिकारी होना एक बात है, लिखना-पढ़ना दूसरी और प्रकाशित-प्रसारित या प्रचारित होना अलग-सी बात।

और यह एक कटु सत्य है कि किसी को अक्षर काले करते, अर्थहीन बात कहने और निरर्थक पढ़ने-सुनने से कोई रोक भी नहीं सकता, बशर्ते वह 'साहित्य' कहकर लिखा जाए। आज के लेखक बड़े प्रगतिशील, श्रमजीवी और अध्यवसायी हैं जो तीस दिन में शोध-संदर्भ की नई से नई पुस्तकें तैयार कर लेते हैं, कवि लालकिले से काव्य पाठ करते हुए लम्बी-लम्बी कविताओं को गिने-चुनों पर गा लेते हैं। पढ़ने वाले एक बैठक में तीन-तीन जासूसी उपन्यास पढ़ लेते हैं, पुस्तकों से दृष्टि नहीं फेरते और श्रोता हास्य की हल्की-फुलकी और छिछली कविताओं का रसास्वादन करते नहीं अघाते।

आप कहेंगे 'आलोचकों को चाहिए, ऐसे साहित्य-सृजन पर रोक लगायें।' हमारा मत है : 'आज के आलोचक आलोचना नहीं, कवितायें लिखते हैं।'

आप फिर कहेंगे : 'आलोचकों का पथ-निर्देश कवियों को करना चाहिए।' हम कहेंगे : 'कवि अब कविताएं नहीं लिखते, वे आलोचनायें लिखते हैं।'

और यदि आपने इस बहस में किसी कहानीकार को निर्णय का

अधिकार दे दिया तो हमारा दावा होगा, 'आज के अधिकांश बड़े और लोकप्रिय कहानीकार कहानियाँ नहीं, लेख लिखते हैं।'

तो प्रश्न यह नहीं होगा कि कौन क्या लिखता है ? प्रश्न होगा, कौन क्या है तथा किस विषय को छोड़कर दूसरे किस विषय पर लिखता है और क्यों ?

ऐसी स्थिति में आप किसी विषय के पचड़े में पड़ना हरगिज नहीं चाहेंगे और जो प्राप्य है, उससे ही सन्तुष्ट होंगे। तब, हमें विवश होकर कहना पड़ेगा कि न कोई साहित्यकार है और न किसी का कोई साहित्य। और जो है वह है नाम, जिसके लिए न किसी प्रतिभा का होना आवश्यक है, न किसी स्वाध्याय-चिन्तन और लेखन का। आवश्यकता तो साहित्यकार बनने कहाने के उस प्रमाण-पत्र की है जो कतिपय नामधारी साहित्यकारों द्वारा दिया जाता है और यह भी किसी ऐप्रोच या तिकड़म के बाद ही।

हमने साहित्यकार कहे जाने वाले कुछेक लोगों की अंगुलियाँ पकड़ कर कुछ नये साहित्याधिकारी बनने और कहाने वालों की एक लम्बी-चौड़ी सूची देखी है जिसमें हमारे पड़ोसी, संग-संगाती, रास्ते-मुहल्ले के और कुछ राजनीति के मंच से निकल आए लोगों के नाम शीर्षस्थ पंक्तियों में हैं।

हमने उन्हें साहित्यकार नहीं, घुसपैठिए साहित्यकार कहा है। मगर इनका कहना है, हमें उन्हें समझने के लिए कम से कम तीन पांच साला योजनाओं के वर्ष और अधिक से अधिक पांच दशक और जीना होगा। वैसे उन साहित्यकारों को भी हमसे अधिक नहीं जीना है। मगर वे कम जीकर भी साहित्य में उतना सब देने का दावा करते हैं, जितना सब पढ़ पाना, हमारे जैसे साहित्य प्रेमियों के लिए सम्भव नहीं जान पड़ता। और सारगर्भित शब्द में हमारी कतई रुचि नहीं होने से हमें वह सब पढ़ना होगा, जो हमारे जीवनकाल में ऐसे घुसपैठिए साहित्यकारों द्वारा सृजित होगा। कारण कि हमें और हमारे जैसों को 'कूड़ा' और 'साहित्य' दोनों में विशेष रुचि है।

तो आइए, सबसे पहले हम आपका परिचय आचार्य श्री से करवाते

ये घुसपैठिये साहित्यकार /

हैं। आप प्रांत की ही नहीं, समूचे देश की किसी पत्र-पत्रिका के लिए नहीं लिखते, आपकी कोई पुस्तक भी प्रकाशित नहीं है और किसी लेखक की कोई कृति पढ़ना तो दूर आपने उसे देखा तक नहीं है। मगर आप सदैव अपने स्वाध्याय का दावा करते हैं और प्रान्त के वरिष्ठ कवियों में जाने जाते हैं। आप लेखक भी हैं, और पत्रकार भी। कभी-कभार आपका अस्वस्थ स्वर आकाशवाणी से भी प्रसारित होता है और आप कवि सम्मेलनों की अध्यक्षता भी करते देखे गए हैं। मगर आपको प्रान्त के बाहर, हमारा तात्पर्य है दूसरे प्रान्तों के साहित्यकारों में कोई नहीं जानता। आप कहेंगे : 'भई ये कैसे ?'

तो सुनिए साहब, आपको भले ही कोई न जाने, कोई कुछ नहीं माने, मगर आज की प्रान्तीय सरकार के सारे मिनिस्टर, सब दफ्तरों के संचालक और कर्मचारियों से लेकर बाजारों-गलियों में पान की और दूध-दही की दूकानों वाले तक अच्छी तरह जानते हैं। और मात्र यही कारण है कि चन्द दिनों पूर्व शहर के हलवाइयों के चन्दे से आपका सार्वजनिक अभिनन्दन बड़ी धूमधाम से सम्पन्न हुआ था। उससे कुछ दिन पूर्व आपको 'नये और आने वाले कल के' साहित्यकारों की किसी संस्था ने सैकड़ों की राशि भेंट की थी। आप कहेंगे—'इतना सब कैसे हुआ ?' और हमारा उत्तर है—'आप में दम हो तो आप भी करके देखिए।'

दूसरे साहित्यकार हैं शर्माजी। आप पिछले पांच वर्षों से लिख रहे हैं। कवियों के लिए आप कवि हैं, कहानीकारों के लिए कहानीकार, मगर न आप कवि हैं, न कहानीकार। यदि कुछ हैं तो छविकारों के लिए छविकार और चित्रकारों के लिए चित्रकार।

आप जानना चाहेंगे—'फिर आप साहित्यकार कैसे हुए ?' हम कहेंगे 'ठीक वैसे ही जैसे लोग पत्र छापकर पत्रकार और पाठ्यक्रम की पुस्तकें तैयार कर किताबकार बन जाते हैं।' दूसरा प्रश्न होगा, 'फिर कवि और लेखक कैसे ?'

उत्तर है, 'जैसे लोग ऐसे भी हैं जो खुद न लिखकर दूसरों से लिखवाते

हैं और रचना का पारिश्रमिक चाहते हैं, नाम नहीं, ठीक वैसे ही। और आजकल कवि और कथाकार तो नामधारी होते हैं, कार्यकारी दूसरे लोग।'

तीसरे साहित्यकार हैं पण्डित मूलीराम 'सुधाकर'। अनेक काव्य ग्रन्थों के प्रणेता, कई एक साहित्यिक संकलनों के सम्पादक, शोध-सन्दर्भ की पुस्तकों के प्रकाशक और सरकार के पदाधिकारी हैं। पहले कभी आप लिखते थे, आजकल तो दूसरों से लिखवाकर अपने नाम में प्रकाशित करवाते हैं।

कल सूचना केन्द्र में मिले तो अलग बुलाकर बोले—

'कोई मदद कर सकोगे ?'

मैंने पूछा—'कैसी मदद ?'

बोले—'लिखने-पढ़ने में।'

'मैं समझा नहीं,' मैंने जानकारी चाही—'आखिर आप कैसी मदद चाहते हैं ? क्या कोई पत्रिका निकालने की सोच रहे हैं ?'

'नहीं', वे धीरे बोले-'मुझे तो तुमसे कुछ पुस्तिकायें लिखवानी हैं अमुक विषय सम्बन्धी।'

'मैं तो ऐसी पुस्तकें नहीं लिख सकता,' मैंने विवशता प्रकट की—'और मुझे तो आजकल समय ही नहीं मिल पाता।'

वे किसी सोच में डूब गए। फिर अपनत्व दिखाते हुए बोले—'भई बात यह है, मैं चाहता हूं तुम्हें कुछ पैसा मिल जाए और मुझे नाम।'

'क्या मतलब ?'

'मतलब यह कि तुम जो पुस्तकें लिखोगे वह मेरे नाम से छपेंगी और लिखने का जो पैसा मुझे मिलेगा उसमें हम दोनों का फिफ्टी-फिफ्टी।'

मुझे यह समझौता स्वीकार नहीं था, इसलिए मैंने उन साहित्यकार के नाम से नहीं लिखा। मगर कुछ मासों बाद ही उनके नाम से किसी पुस्तक माला में कुछेक नई पुस्तकें और छपी मेलों, त्योहारों, दुर्गों, मन्दिरों और शहरों जैसे विषयों को लेकर। स्यात् जिस साहित्यकार को वे तलाश रहे थे, उन्हें मिल गया था।

चौथे साहित्यकार हैं आलोचक प्रवर 'क्षण-भंगुर जी'। पाठ्य-पुस्तकों की कुंजियां लिखते-लिखते बूढ़े हो चले हैं और अब घिसेपिटे चेहरों की जीवनियां लिख-लिख कर कवि-लेखक बनते-बनते आलोचक बन गए हैं। आपकी आलोचना शक्ति कैसी है और आपका अध्ययन कैसा है —इससे पूर्व हम दो बातों पर ध्यान आकृष्ट कराना चाहेंगे—पहली, क्षण भंगुरजी अपना नाम और पता तक सही नहीं लिख पाते और दूसरे साहित्यिकों की कृतियों की आलोचना सही लिख लेते हैं—हम इस मर्म से परिचित नहीं।

दूसरी, आपको लिपि का ज्ञान कतई नहीं है और क, का, कि, की कु, कू तक आप सही नहीं लिख सकते मगर कहते हैं आप एक बैठक में सौ पृष्ठ काले करते हैं, जिन्हें आपके विद्यार्थी संशोधित करते हैं। मगर आपकी ख्याति आलोचक के रूप में बाहर की गली-गली में बंट रही है और आश्चर्य है कि आपको आपके पड़ोसी तक नहीं जानते।

आपके लिए एक बात और भी देखी सुनी जाती है कि आप नई कविता का घोर विरोध करते हैं और स्वयं नई कविता लिखने का यत्न करते हैं। दूसरी ओर आप गीतों के प्रबल समर्थक हैं, मगर गीत-काव्य से आप नितान्त अनभिज्ञ हैं। और सच, यह है कि आप लिखते-पढ़ते भी कुछ नहीं हैं, किसी प्राइमरी के अध्यापक हैं और हिन्दी पढ़ाते हैं।

और भी ऐसे साहित्यकार हैं जो लोकप्रियता के कितने ही सोपान पार कर चुके हैं पर उनके बारे में अभी कहने और सुनने वाले दोनों दुर्लभ है।

◻

कतरन-साहित्य

आज 'साहित्य' कहकर जो लिखा जा रहा है, उससे लेखक सन्तुष्ट हो सकते हैं—मगर समाज नहीं। समाज जिस लिखे को पढ़ना चाहता है या जैसा लिखा हुआ पढ़ कर लाभान्वित और गौरवान्वित होना चाहता है, उसका पुस्तक पत्रिकाओं में सर्वथा अभाव-सा है। लोग साहित्य में नहीं, नारों में, आन्दोलनों में, वाद-विवादों में तथा दूसरों की 'गुड विल' पर जीना चाहते हैं। और ऐसा कर वे जो अनुभव करते हैं, उसे ही लिखकर पुजना चाहते हैं। मगर हर भोगा हुआ यथार्थ लेखन नहीं हो सकता और हर थोपा या उधार लिया अथवा चुराया गया साहित्य 'साहित्य' की संज्ञा में नहीं आता।

यों आजकल कहीं से भी और किसी भी तरह बटोर कर अपने नाम से कुछ भी छपवाया जा सकता है, प्रचारित-प्रसारित कराया जा सकता है। किन्तु सही मायने में साहित्य लिखकर, सही अर्थों में उसे जीकर साहित्यकार कहाना सभी के लिए सम्भव नहीं होता। जो लिखते हैं, उन्हें साहित्य-पठित जनता नहीं स्वीकारती और जो लिखते नहीं और फिर भी पूजे जाते हैं, उनकी चर्चाएं आए दिन सामयिक-समाचारों जैसी होती हैं।

यह एक निर्विवाद सत्य है कि लोग अपने कतरन साहित्य से पुस्तक-पत्रिकाओं और आकाशवाणी के माध्यम से धनोपार्जन करते हैं, जबकि ऐसे साहित्य कर्मियों की न्यूनता नहीं है, जो अनवरत रूप से साधना में रत होकर भी अर्थाभाव में, विषम परिस्थितियों में तथा रुग्णावस्था में जीते हैं, फिर भी यश और नाम से वंचित रहते हैं।

पिछले कई वर्षों में अनेक साहित्यकार मेरे सम्पर्क में आए हैं जिनमें अधिकांश 'साहित्य व्यवसायी' थे, साहित्यकार नहीं। उनकी न साहित्य में कोई विशेष रुचि थी, न वे साहित्य को साहित्य की दृष्टि से देखते थे और न ही उनका साहित्य से कोई सम्बन्ध था। वे तो साहित्य के माध्यम

से धनोत्पत्ति करना चाहते थे, उन्होंने ऐसा किया भी। मगर वे आज क्या बन गये हैं, यह देखकर मैं स्वयं आश्चर्यान्वित हूं।

साहित्य द्वारा अर्जित धन से मैंने लोगों को बंगले बनवाते भी देखा है, ऐशो-आराम करते और अंधियारे-कोनों में सांस लेते भी।

कहानी बजरंगाजी की

पिछले दिनों एक साहित्यकार साहित्य क्षेत्र में और जन्मे। पहले वे किसी नृत्य मण्डली में तबलची थे, फिर लड़कियों को कत्थक-नृत्य का रिहर्सल कराते और कुछेक दिनों बाद ही नाटकों में अभिनय करते और निर्देशन देते भी देखे गये।

कुछ दिन हुए, मिले तो मुस्कराते हुए बोले 'इन दिनों मैंने साहित्य भी लिखा है—'कहानी, कविता, लेख सब।'

मैंने जिज्ञासापूर्वक पूछा—'आप कबसे लिखने लगे ? आपने तो कभी कुछ पढ़ा तक नहीं ? क्या अचानक सरस्वती की कृपा हो गई ?'

वे गर्दन को दायें-बायें करते हुए कहने लगे—'भई, मेरा साहित्य से क्या लेना-देना, मैं तो धनोत्पत्ति के लिये लिखता हूं। मुझे साहित्यकार नहीं बनाना, मुझे तो टेरेलिन की शर्ट और पेंट सिलवानी है।'

मैंने एक जानकारी और चाही-'भाई यह सब कैसे ? क्या टेरेलिन के कपड़े भी साहित्य से सम्बन्धित है ?

'आप समझे नहीं', नवोदत साहित्यकार बजरंगा जी (नाम शायद कुछ और था) ने धीरे से शब्दों को रोक-रोक कर कहा—'मेरे पास कुछ लोक-कथायें संकलित की हुई थी, कुछ नृत्य-नाटक और कलाओं पर प्रकाशित सामग्री की कटिंग्स थी और कुछ सामग्री मैंने यहां-वहां से मार ली थी—और इस सबको मैंने अपने नाम से पत्रिकाओं में छपा लिया है।'

मुझे सब समझते देर न लगी और मैं ऐसे कतरन-साहित्यकार से सदा-सदा के लिए अभिवादन करके घर लौट आया।

वर्मा जी की मूल्यांकन योजना

न जाने कैसे मेरी मुलाकात काशी से पधारे और जयपुर बस गए

वर्मा जी से हो गई। वे आदमी एकदम लचर थे मगर उनके कारनामों की चर्चाएं आये दिन सचिवालय के साहित्यकारों और काफी हाउस के मजमेबाजों में होती थीं।

एक दिन अचानक ही कहीं से आ टपके-'अरे सुनो भाई, मेरी राजधानी के साहित्यकारों के मूल्यांकन की एक योजना है और उसके लिए तुम्हारा सहयोग चाहता हूं।'

मैंने चौंकते हुए पूछा-'कैसी योजना और कैसा मूल्यांकन ?' वे अपने मुंह को ऊंचा नीचा करते हुए भाषण देने लगे—'मैंने नए-पुराने सब साहित्यकारों के सही मूल्यांकन के लिए हर माह के हर सप्ताह में एक-एक साहित्यकार का साहित्य सुनने की योजना बनाई है। इस योजना के अन्तर्गत हर साहित्यकार अपना लिखा हुआ ढेर सारा साहित्य एक साथ प्रस्तुत करेगा, श्रोताओं मे बैठे दो आलोचक उसके साहित्य का मूल्यांकन करेंगे और मूल्यांकन के रूप में जो लिखा जाएगा, वह स्थानीय समाचार पत्रों में प्रकाशित होगा। इस तरह जो साहित्यकार साहित्य-क्षेत्र में उपेक्षित रह गए हैं—उन्हें सम्मान मिलेगा।

'और इस सबसे आपको क्या मिलेगा ?' मैंने नही चाहते हुए भी पूछ ही लिया। 'मुझे कुछ नही,' वे बोले—'मेरा कार्य तो साहित्यकारों की सेवा करना है।'

बाद में अधिक जानकारी चाहने पर वर्माजी ने मुझे मूल्यांकन किये जाने वालों की सूची दिखाई जिसमे मेरा एक भी परिचित साहित्यकार नही था, सब कतरन साहित्य के प्रणेता थे। ऐसे और अनेक साहित्यकारों से भी मेरा परिचय रहा।

साहित्य के बदलते मापदण्ड

हिन्दी के अधुनातन लेखन और साहित्य के बदलते मापदण्डों को देखते हुए लगता है आज साहित्य कह कर जो लिखा जा रहा है, उसमें प्रयोगशील और सांकेतिक भाषा में नई नई विधाएं हमारे सामने आई हैं मगर नये के प्रयत्न-साध्य लेखन में कचरा भी कम मात्रा में नहीं लिखा गया है। कहीं ऐसा न हो कि हम नये कहे जाने वाले साहित्य में अपना

पुरानापन जो शाश्वत है, वह भी खो बैठे। हमें नए और पुराने दोनों ही साहित्य में मोती तलाशने होंगे। अच्छे साहित्य का भले ही वह साहित्य की पुरानी विधाओं में लिखा हो, अनुकरण करना उतना गलत नहीं है जितना 'नया' कहकर कुछ नही देना है। हमारा उद्देश्य तो सही मायने में 'साहित्य' कहे जाने वाले लेखन मे होना चाहिए, थोपे गए और थोपे जा रहे साहित्यिक कचरे में नहीं।

ये आलोचक : ये पत्रिकायें

आजकल पत्रिकाओं के समीक्षा स्तम्भों में अच्छी कृतियों के लिए बहुत ही कम और वह भी पूर्वाग्रह के साथ तथा हल्की सस्ते स्तर की कृतियों के लिए सविस्तार और बढ़ा-चढ़ा कर कहा जा रहा है। यह कोई स्वस्थ बात नहीं।

इससे हिन्दी पठित जगत को साहित्य पढ़ने-समझने में जो असुविधा या भ्रांति हो सकती है—इसका अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है। 'कल्पना' जैसी साहित्यिक पत्रिका में एक पुस्तक को लेकर लिखा गया—'ये सात कथायें हैं और इन्हें कहानियां न कहकर कुछ भी कहा जा सकता है।' मगर स्थिति इसके विपरीत है। पुस्तक की कहानियों को कहानियों के अतिरिक्त और कुछ नहीं कहा जा सकता।

नये मुखौटों के भटकाव

आज जीवन के दूसरे क्षेत्रों में स्यात् उतना संघर्ष नहीं है, जितना साहित्य के क्षेत्र में। कारण कुछ भी रहे हों, एक सत्य यह है कि 'लोग' साहित्यकार बनकर ख्याति अर्जित करने के लिये नये-नये मुखौटों के साथ इस क्षेत्र में आये हैं, आ रहे हैं और इनमें अधिकाश वे लोग हैं जो कला-राजनीति और सांस्कृतिक प्रवृत्तियों से सम्पृक्त रहे हैं। इससे सही व्यक्ति के चयन मे तो असुविधा होती है, साथ ही 'गलत व्यक्ति' को अनावश्यक रूप से दिये जाने वाले सम्मान से क्षेत्र के कार्यस्थ रचनाकारों में कुंठाएं, अनास्थायें, विषमताएं और रिक्तताएं भी बढ़ रही हैं।

प्रकाशन का मोह :
अर्थहीन लेखन

आज हर व्यक्ति येनकेन-प्रकारेण पत्रिकाओं में प्रकाशित होकर धनोपार्जन के लिये वह सब लिख रहा है, जिसे पत्रिकायें छाप सकती हैं। किन्तु वह साहित्य नहीं है, साहित्य के लिये जुटाई गई रचनाओं की वे कतरनें हैं जिन्हें जोड़कर सम्पादकों की आंखों के आगे मकड़ी के जाल बुने जा रहे हैं। इस सबसे अधिक दुख है प्रकाशित लेखकों के मानसिक भटकावों और शारीरिक बिखरावों का। वे साहित्यकार तो बन रहे हैं, आदमी नहीं रह पा रहे। ऐसे लेखक जिनका विश्वास कतरन साहित्य में है या जो साहित्य लिखने की अपेक्षा साहित्यकार कहाने में ज्यादा रुचि रखते हैं, उनका अर्थहीन लेखन कभी जीवन को अर्थहीन भी कर सकता है। उन्हें यह कभी नहीं भूलना चाहिए।



पान की आत्मकथा

जी हां ,मेरा नाम पान है और लोग मुझे इसी नाम से जानते हैं, याद करते हैं। वे चाहे रसपान करें, चाहे सुरापान, उन्हें मेरी तलब जरूर होती है। आजकल चायपान में भी मेरी आवश्यकता अनुभव की जाती है। कुछेक शौकीन तो पान भी शौकिया ही खाते हैं, लेकिन ऐसे भी अनेक महानुभाव हैं जो पान जमाए रखने के निरे आदी हैं और जिनकी डिबिया पानों से भरी रहती है। कुछेक जर्दिया लोग पान की अच्छी दूकानों के स्थायी ग्राहक हैं और वर्षों से पान खाने के लिए पंजीकृत हैं। खुदा उनकी उम्र दराज करे।

दर असल मेरे बिना मान-सम्मान और रख-रखाव के सारे तौर-तरीके आधे-अधूरे हैं। यह और बात है कि लोग कृपणतावश छालियां फांककर या सौंफ खाकर अथवा चूना-जर्दा फटफटाकर अपना मुंह अच्छा कर लेते हैं, किन्तु जहां तक मुंह के जायके का प्रश्न है, इस जायके को पान खाने वाले ही समझते हैं। और साहब, बिना पान सम्मान भी क्या ? जैसे जल इज्जत का पर्याय है और उसका होना जरूरी है, वैसे ही पान इज्जत अफजाही की जान है और यह आज के आदमी की बेहद मजबूरी है। पत्रकार कृष्णावतार गौड़ होते तो पान भी जमाते और दस पांच सिगरेट फूंककर कहते 'यार फंक्शन की कवरेज बिना पान सिगरेट कहां होती है ? धुंआ निकले, मुंह चले तो कवरेज के लिए कलम भी चले।'

सच भी है, पुराने जमाने के लोग मूर्ख नहीं थे। वे एक पान के बीड़े में दुनिया को इधर-उधर करवा देते थे। मसलन पान का बीड़ा खाया और बहादुर युद्धोन्मुख हो गया या पान का रंग देखा कि जवानी पै रंग आ गया। और 'जाकी बिटिया सुन्दर देखी ता पर जाय धरी तरवारी।'

बच्चों ने 'खायके पान बनारस वाला' क्या सुना वे अमिताभ बच्चन

को श्रेष्ठ सिने कलाकार घोषित करने लगे। पान के शौकीन और कद्रदां हर समय में हुए हैं। पान का रिवाज पहले भी काफी था और वह हमारे मांगलिक पर्वों से प्रतिथि सम्मान तक पेश किया जाता रहा। हर हाल में हर प्रकार की परिस्थिति और परिवेश में पान सेवा की प्रथा रही। हमारे देश, धर्म और रीति-रिवाजों में पान 'पानजान' की तरह 'बेगमे फातमा' रहा।

मुझे ठीक से याद नहीं आ रहा, लेकिन इतना सही है कि मेरा जन्म किसी तबोली के यहां नहीं हुआ। मैं किसी एक स्थान पर नहीं जन्मा और कई स्थानों के साथ मेरे अनेक नाम हो गए, अलबत्ता सरनेम पान ही रहा। मीठा, माचर, मदरासी, गोरा, मघी, मेवाड़ी, लासेरी, कलकत्ती, बंगाली जैसे नामों से मुझे सम्बोधित किया गया।

मैं अपने शौकीनों की क्या तारीफ करूं, ऐसे सत्ताधारी भी मिले कि मुझे देखते ही झपटे, उठाया और मुंह में जमा लिया। कुछेक देर तक चबाते रहे और बहुतों ने गाल के एक कोने में ऐसे दबा लिया जैसे किसी का माल हथिया लिया हो। आदमी का भोजन करने वाले भी मेरा भोजन करना नहीं भूले। शायरों का तो जवाब ही नहीं। उन्होंने मेरे टुकड़े कर डाले और तबसे मैं 'पान के टुकड़े' के रूप में खाया जाने लगा।

वे पान वालियां

कहते हैं, सातवीं शताब्दी में सम्राट हर्षवर्द्धन के राज्य में 'निउनिया' उर्फ 'निपुणिका' पान की दूकान किया करती थी और वह बाणभट्ट को दूसरी बार वहीं मिली थी। पान वालियां सभी समय में हुयीं, उन्होंने बड़े गुल खिलाये और उनके पान के किस्से हवा में तैरते रहे। लेकिन उनके नखरे राजा-महाराजा और नवाब ही नहीं, पान के कद्रदां भी उठाते रहे। इस तरह पानवालियों में गुलाब बाई गुलाब की तरह और चमेली बाई चमेली की तरह पहचानी गयी।

चिलमभरो अभियान में भी पान का विशेष महत्त्व प्रतिपादित किया

गया। लोग मुश्की, जर्दा, किमाम, तबक, कोकीन, खुशबूदार सुपारी और चिकनी सुपारी के पान खिलाने मे ही न जाने क्या से क्या हो गये। पान की बदौलत वे सिर चढ़ गए और पान जान पेशकर ताबेदार से सरकार हो गये। कत्था खाकर लोग जितने लिजलिजे रहे, उससे भी कहीं अधिक चूना लगाने में उन्होंने कमाल हासिल किए कि वे महमद खां से मोहब्बत खां और सोहबत खां से हुकूमत खां हो गये।

यह कहते मुझे कतई संकोच नहीं है कि जितना मेरा उपयोग संस्कारों के निमित्त या लोकव्यवहार के लिये किया जाता है, आज उससे कई गुना दुरुपयोग लोगों को बनाए रखने के लिए किया जाता है।

लेकिन पान ने बड़े गुल खिलाये हैं और वह इसीलिए अपनी पहचान रखता है।

पहला पान

बात उस समय की है जब मैं छोटा रहा हूंगा, लखनऊ की बेगमें मुझे काफी पसन्द किया करती थीं और उनके मुंह कत्थे चुने की लार से भरे रहा करते थे।

एक दिन बेगम अख्तरको पान की बड़ी तलब हुई और उसने निश्चय किया कि जो उसे दिन का पहला पान खिलाएगा, रात को उसी की बेगम रहेगी। इत्तफाक से उसे पहला पान एक फकीर ने पेश किया और वह फकीरन हो गयी। मियां रहमत को भी पान खाने की लत थी। वे एक साथ दो-तीन पान जमाकर जब अपनी बेगम से मिला तो बेगम ने उन्हें अपने से अलग करते हुए कहा—'भला मुंह भरे पान के साथ किसी के पास कोई जाता है ?' और उस रात मियां रहमत को कमरे मे सोने की इजाजत नही दी गई और वे रातभर करवट बदलते रहे।

काशी के सूवालाल भी पानों की दलाली करते हुए गलती से जर्दे का पान बजाय पंडितानी के अपनी साली को खिला आये। फिर क्या था, सारी पण्डिताई धुल गयी एक पान के बीड़े में। कहते हैं आंग की गोली पर

डेढ़ किलो मिठाई और पचपन पूड़ियां खाने के बाद जर्दे के हाथ लगे पान को खाने से सांगड़ी बलवीर प्रसाद के होश भी लापता हो गए थे।

पान के और भी किस्से मेरी आंखों देखे हैं। मेरी शुरू जवानी में पान खिलाकर यार लोग औरतों को रिझाया करते थे। वे पान खाने वाली औरतें अब तक आधी दर्जन से अधिक बच्चों की माएं बन चुकी होंगी। उन दिनों पान के गीत और लोग गालियों के भी बड़े रंग थे और एक पान के बीड़े में लोगों के चरित्र आंक लिए जाते थे, फिर भी, लोगो मे हया-शरम थी।

पहले कभी पान तश्तरियों में सजाकर और बड़े ही अदब के साथ लाये और खिलाये जाते थे किन्तु बुरा हो इन नये पान खाने-खिलाने वालों का, उन्होंने मेरी बनी बनाई इज्जत को मिट्टी कर दिया। पान वाले हैं कि हाथ से पान दे रहे हैं और लोग हैं कि खड़े-खड़े ही पान खा रहे हैं और कुछेक ऐसे भी हैं कि पान की पहचान भी छोड़ रहे हैं।

मैंने वह जमाना भी देखा है जब प्रेमी अपनी प्रेमिकाओं को 'पान-जान' और पति अपनी पत्नी को 'नागरपान' समझा करते थे। तब औरतें भी ऐसी ही थी कि पान की तरह आदमियों के होठों पर रच जाया करती थीं। वे महंदी लगाते समय हाथ पर पान मंड़वाती थीं और उनमें ऐसी भी थीं जिनके तकिए के नीचे सुबह पान मिला करते थे।

सब समय का फेर है। समय-समय की बात है। मेरे पिता 'पान-दान' में बैठकर हाकिमों के साथ सैर को जाया करते थे और जब हाकिम उन्हें याद करते तो एक अदब के साथ पेश किए जाते थे। वह शान-शौकत और तौर-तरीका गलत नही था और उसमे बधकर ही लोग पान खाना बेहतर समझते थे। तब पान की पेशगी मामूली बात नहीं थी और आज, आज तो लोग पान खाना और खिलाना भी नही जानते। अब न वैसे पन-वाड़ी रहे न पान खाने वाले। पान की मार ने और उधार ने अनेक गृह-स्थियां उजाड़ दी हैं। इसमे अत्युक्ति नही कि पान का व्यय गेहूं के व्यय तक पहुंचने लगा है।

लेकिन फिर भी, गांव-गली-गलियारों से शहरों और महानगरों तक सिने गीत गूंजने लगा है—'खाइके पान बनारस वाला....।'

इन्टरव्यू, एक आलोचक के रिक्त पद का

पिछले दिनों हिन्दी पठित जगत के अजाने-अनसुने मगर—'चोटी के आलोचक', अल्पज्ञातों की जमात के 'पाठ्यक्रमी-पुस्तकों के दो रुपये पेजी लेखक' 'हिन्दी व्याकरण एवं लिपि के घोर विरोधी', कॉफी हाउस के सिर-कटे मगर बहुसी-साहित्यकारों के धर्मगुरु और जनतावाणी द्वारा प्रसारित नाटकों के 'छटंकीलाल' तथा रंगमंच के 'अतिरिक्त कलाकार' श्री भजनलाल सुपुत्र सर्वंयाचन्दजी साहित्य में नहीं रहे।

उनका बिना किसी पूर्व सूचना के साहित्य के एक मुहल्ले से किसी बाजार में चले जाना, सृजनशील और ख्यातिनामा लेखकों के लिए कम, मगर उनके परम शिष्यों तथा मस्तिष्कविहीन लोगों के लिए अधिक कष्ट का कारण रहा। न तो वे बिना किसी 'भजनानन्दी आलोचक' की सहायता से साहित्य में चलने की स्थिति में रहे और न उन्हें किसी साहित्यकार ने साहित्यिक रूप में स्वीकारा।

विवश हो, वे स्थानीय 'साहित्य के दफ्तर' में पहुंचे और उन्होंने दफ्तर के संचालकजी से अचानक हुए आलोचक के रिक्त पद के स्थान की पूर्ति हेतु प्रार्थना की। संचालकजी उदारमना थे, वे तुरन्त उनकी स्थिति से अवगत हो गये और दूसरे ही दिन एक स्थानीय समाचार-पत्र में 'आवश्यकता' के कॉलम में आलोचक की आवश्यकता का विज्ञापन छप गया।

विज्ञापन के छपते ही संचालकजी की मेज पर आवेदन-पत्रों का ढेर लग गया। स्थानीय साहित्यकारों में कुछेक दूकानदार साहित्यकार आलोचक कहाने के इच्छुक थे और उन्हें अपने साहित्यकार बने रहने का विश्वास नहीं रह गया था। अतः ऐसे सभी लोगों ने उक्त पद के लिए आवेदन-पत्र दिए थे।

किन्तु काफी खोजबीन एवं जांच के बाद भी ढेर सारे आवेदन-पत्रों में से चार ही आवेदन-पत्रों पर विचार किया जा सका और चार व्यक्ति साक्षात्कार के लिए बुलाये गए।

साक्षात्कार के समय पूछे गये प्रश्न और उनके लिए दिए गये उत्तर कैसे, क्या थे, आप स्वयं देखें। विवरण यहां प्रस्तुत है —

(1)

प्रार्थी का नाम—मुफ्तीलाल सुपुत्र साखीलाल, निवासी चौमूं।

आयु— 37 वर्ष।

शिक्षा—मैट्रिक फेल, पांच साला योजनोपरान्त भी सफल नहीं।

पूर्व व्यवसाय—चाय की दूकान, वर्तमान में सट्टे के कार्य से सबद्ध।

साहित्यिक सेवाएं—स्वयं कभी नहीं लिखा, दूसरों से लिखवाकर अपने नाम से साहित्य प्रकाशित करवाता रहा। मगर साहित्य के लिए साहित्य का प्रणेता। दो-चार कवि सम्मेलनों में श्रोता के रूप में भाग लिया। कभी-कभी आकाशवाणी के कार्यक्रम भी सुने। समीक्षाएं लिखीं, मगर पत्रिकाओं का दुर्भाग्य कि उन्हें कहीं भी स्थान नहीं मिला।

अनुभव—तीन सम्मानित लेखकों को अपमानित किया, उन्हें कालभ्रमित पीढ़ी द्वारा हूट भी करवाया। एकाध कवि गोष्ठियों में संयोजन किया मगर कवि न्यून संख्या में आ पाए।

कोई अन्य कार्य—हिन्दी के अध्ययन के लिए प्रयत्नशील, लेखक नहीं बन पाने के बाद आलोचक बनने को लालायित और इसी दिशा में कार्यशील।

प्रश्न 1—आप आलोचक बनकर साहित्य को किस रूप में देखने के इच्छुक हैं और क्यों?

उत्तर—मेरा साहित्य से कोई ताल्लुक नहीं है। मैं तो साहित्य का आलोचक बनकर कुछेक प्रतिभाओं को नकारने के लिए आमादा हूं। साहित्य जाए भाड़ में, उसका रूप कुछ भी और कैसा भी रहे—मेरा कुछ बनने बिगड़ने वाला नहीं है। मैं तो चाहता हूं, साहित्य की हर प्रतिभा मेरा 'अस्तित्व' स्वीकार करे। मैं जिसे साहित्यकार कहूं वह साहित्य में

रहे और जिसे साहित्यकार नहीं होने की बात कहूं, वह साहित्य क्षेत्र से सन्यास ले ले।

प्रश्न 2—क्या आप हिन्दी के कुछ वाक्य सही बोल सकते हैं ? यदि हां, तो जरा बोलकर दिखाइए।

उत्तर—मैं हिन्दी भासा (भाषा) का परबल (प्रबल) समर्थक हूं और हिरदय (हृदय) से चाहता हूं कि सब हिन्दी भासा (भाषा) में ही लिखें-पर्रें (पढ़ें) मैं यह भी चाहता हूं कि हिन्दी के साहितकार (साहित्यकार) कबि (कवि) लेखक और आलोचक एक दूसरे के कार (कार्य) में हाथ बटाएं।

प्रश्न 3—आपने हिन्दी साहित्य की कौनसी पुस्तक को आद्यंत पढ़ा है और उसमें आपको क्या रुचा है ?

उत्तर—मैंने पुस्तकें तो बहुत पढ़ी हैं, मगर पूरी तो एक भी पुस्तक नहीं पढ़ी। इसलिए मुझे किसी भी पुस्तक में कुछ नहीं रुचा।

प्रश्न 4—फिर आपने क्या पढ़ा है ? किस लेखक को पढ़ा है ?

उत्तर—मैंने तो दो-तीन मित्रों की कविताएं स्थानीय-पत्रों में पढ़ी हैं और उन्हें ही लेखक मानता हूं।

प्रश्न 5—आपने ऐसे लेखकों की भी रचनाएं पढ़ी हैं जो न आपके मित्र है, न परिचित ?

उत्तर—नहीं पढ़ी। मैं पत्रिकाएं नहीं, समाचारपत्र ही पढ़ता हूं और समाचारपत्रों में भी आंकड़े का कॉलम देखता हूं।

प्रश्न 6—आप ऐसे लेखकों का नाम बता सकते हैं जो आपको आलोचक रूप में स्वीकार कर सकेंगे ?

उत्तर—ऐसे तो तीन ही नाम हैं।

प्रश्न 7—क्या आपके तीन नामों से साहित्य जगत किसी रूप में परिचित है ?

उत्तर—नहीं है। अभी तो मेरे तीन नामों से पूरा शहर भी परिचित नहीं है।

आदेश—आप जा सकते हैं। इस बार तो नहीं मगर फिर कभी किसी आलोचक की आवश्यकता हुई तो हम आपको आमन्त्रित करेंगे।

प्रार्थी का नाम— स्वयंवरनाथ उर्फ दिगम्बरनाथ निवासी सनखल।

आयु— 40 वर्ष।

शिक्षा— एम. ए. हिन्दी, 'कविता में प्रकविता' विषय पर 'विद्वान' की उपाधि से अलकृत।

व्यवसाय—कॉफीघर के सिरफिरों का निर्देशक।

साहित्य सेवायें—पुष्पितया पत्रिकाओं के समीक्षा स्तम्भों का नियमित लेखक; कुछेक विवादास्पद लेख यहां-वहां की पत्रिकाओं में प्रकाशित; तीन पुस्तकें शिष्य-प्रकाशकों द्वारा प्रकाशित-विषय 'मक्के की खेती', 'उधार का लेखन' और 'विद्यालयों में कैसे पढ़ें ?'

अनुभव—साहित्य क्षेत्र में पिछले दस वर्षों से सृजनशील, मगर पाठकों का सर्वथा अभाव।

कोई अन्य कार्य—तीन नवोदित लेखकों की पुस्तकों पर अभिमत दिए, दो ग्रन्थ विमोचन समारोहों में सम्बन्धित ग्रन्थों को आद्योपान्त पढ़े बिना ही अपनी प्रवचन क्षमता से बीस मिनट तक विचार प्रकट किए।

प्रश्न 1—आपने अपना नाम दिगम्बरनाथ कैसे रखा ? क्या आप जैन हैं ?

उत्तर—जी नहीं, न तो मैं जैन हूं, और न मैंने अपना नाम दिगम्बरनाथ रखा। दिगम्बरनाथ तो मुझे 'स्थानीय-साहित्यकार' कहते हैं। मेरा मतलब 'पिछड़े हुए' या 'चुके हुए' अथवा 'असाहित्यिकों' से है।

प्रश्न 2—आप स्थानीय साहित्यिकारों को पिछड़े हुए, चुके हुए और असाहित्यिक कैसे मानते हैं ?

उत्तर—मैं नहीं मानता और उनकी साहित्यिक प्रतिभाओं को मन में स्वीकारता भी हूं। मगर कहीं वे मेरी लेखन-क्षमता को नकार नहीं दें, इसलिए मैं उनके लिए कुछ भी कह-लिख देता हूं।

प्रश्न 3—आपने किस साहित्यकार की किस कृति को विशेष रूप से सराहा है ?

उत्तर—मैंने तो किसी भी कृति की सराहना नहीं की और न किसी कृति की भर्त्सना। मैं तो बिना पढ़े ही हर कृति पर बोलता हूं और पुस्तक हाथ में आने से पूर्व ही उसकी समीक्षा लिख देता हूं।

प्रश्न 5—यह सब कैसे ?

उत्तर—मेरे पास एक रजिस्टर है जिसमें कुछ लेखों की कटिंग्ज चिपकाई हुई हैं। मैं उन लेखों के अंशों का भिन्न-भिन्न समीक्षाओं में उपयोग करता हूं। जैसे, जो समीक्षा मैंने किसी कविता-पुस्तक के लिए लिखी थी, वही समीक्षा कहानी पुस्तक के लिए भी छपी है।

प्रश्न 6—बहुत अच्छा। हिन्दी आलोचना में यह प्रयोग आप ही कर सकते थे। मगर राजस्थान के साहित्य और यहां के साहित्यकारों के लिए आपने क्या किया, जरा यह भी बताइए ?

उत्तर—राजस्थानी साहित्य में मेरी आस्था नहीं है और यहां के साहित्यकारों को मैंने कई–कई दलों में विभक्त करने का सदा यत्न किया है। मैंने गीतकारों को कवियों के विरुद्ध और कहानीकारों को निबन्धकारों के विरुद्ध रखने में कोई कसर नहीं रखी है।

प्रश्न 7—आलोचक पद के लिए आप क्यों इच्छुक हैं ?

उत्तर—बिना आलोचक पद प्राप्ति के मेरा साहित्य में रहना संभव नहीं है। मैं मौलिक लेखक तो हूं नहीं, संकलित साहित्य के आधार पर समीक्षायें लिख लेता हूं। मगर साहित्य में रहने के लिए यह सब बहुत कम है।

आदेश एवं अभिमत—आप जा सकते हैं। हमारी राय में आप प्राथमिक विद्यालय में ही बने रहें, साहित्य में आप किसी भी रूप में नहीं चल सकते। साहित्यकारों में साहित्यकार और आलोचकों में आलोचक रह पाना आपके बूते की बात नहीं।

(3)

प्रार्थी का नाम—	आचार्य रामचरण सुपुत्र शास्त्री कृष्ण किरण।
आयु—	कोई 35-36 के आसपास

शिक्षा— उर्दू साहित्य में एम. ए., फुटपाथी साहित्य' में 'भिड़ाकू' की उपाधि से अलंकृत।

व्यवसाय—रंगमंच के राजस्थली कार्यक्रम से सम्बद्ध (समझौतों पर लिखने वाला लेखक)

साहित्यिक सेवाएं—दूसरे रचनाकारों की मूल रचनाओं की अनुकृतियां लिखने का अभ्यास होने से कविताएं, लोक कहानियां, गीत, लोकगीत सभी लिखे जो मेरे कंठों द्वारा सिने-गीतों की तरह बार-बार प्रसारित होते रहे। 2-लोक कथाओं के एक संग्रह पर पाठक अकादमी द्वारा पुरस्कृत हुआ। 3-स्थानीय समाचारपत्रों में कभी-कभार रचनाओं का प्रकाशन।

अनुभव—हिन्दी नहीं जानता, मगर फिर भी हिन्दी भाषा में सैकड़ों गीत लिखे; राजस्थानी नहीं, मगर राजस्थानी लिख सकता हूं। कवि-सम्मेलनों में कम, मुशायरों में ज्यादा जाता रहा हूं। शब्दों का शुद्ध उच्चारण कर सकता हूं। आलोचना-साहित्य से अनभिज्ञ हूं, मगर पत्रिकाओं में समीक्षा स्तम्भ पढ़ता रहा हूं।

कोई अन्य कार्य—पतला-दुबला नहीं हूं। साहित्य में रहकर आदमी का स्वस्थ रहना जरूर मानता हूं और ढाई सेर नमकीन और एक बोतल गुलाब पीने की क्षमता रखता हूं। सबकी बातों में नुक्ताचीनी करते-करते मैंने आलोचक बन पाने की कुछ रीति-नीतियां समझली हैं और गत तीन वर्षों से अच्छी रचनाओं तथा मान्यता प्राप्त कृतियों में कमियां तलाशता रहा हूं।

(खेद है एक दावत में चले जाने के कारण प्रार्थी साक्षात्कार के लिए नहीं आ सका।)

(4)

प्रार्थी का नाम— एल. त्रिवेदी सुपुत्र एस. त्रिवेदी।

निवासी— जानकारी नहीं।

शिक्षा— इन्टर विज्ञान में, बी. ए. हिन्दी में और एम ए. अंग्रेजी में।

पूर्व-व्यवसाय—सबसे पहले आगरा में लड़कियों की प्राइमरी में अध्यापक रहा, फिर अलवर में कुछ वर्ष एक टेलर के साथ कार्य किया जहां कपड़ों की कतर-ब्योंत करते-करते साहित्य की कतरनें तैयार करने का शौक हुआ और अन्त में जब कोई अच्छी नौकरी नहीं मिली तो पत्रिका का सम्पादक हो गया। इस समय पत्रिका प्रेस में है, किन्तु धनाभाव के कारण पत्रिका प्रेस से उठाई नहीं जा सकी है।

साहित्यिक सेवायें—साहित्य में रहकर साहित्य के द्वारा साहित्य के लिए सब तरह से गलत कार्य किये हैं ताकि साहित्य कुछ व्यक्तियों तक सीमित रह सके।

—नये साहित्यकारों के पथ को हर बार अवरुद्ध किया है। न तो उन्हें अपनी पत्रिका में कभी छापा है और न ही उनकी रचनाओं को कहीं छपने दिया है।

—साहित्य में कनकव्वे लड़ाना विषय पर दो बार सेमिनार आयोजित कर चुका हूं जिसमें राजस्थान के साहित्यकारों को छोड़कर अन्य प्रान्तों के साहित्यकार भाग ले चुके हैं।

—पाठक अकादमी में हरबार घुसपैठ की है और हर बार निकाला गया हूं। मगर आज भी पाठक अकादमी के कार्यों से सम्बद्ध हूं।

—मौलिक साहित्य कम और अमौलिक साहित्य अधिक लिखा है जो पत्रिकाओं के समीक्षा-स्तम्भों में छपा है।

—पाठ्यक्रम की पुस्तकों की सहायक पुस्तकें लिखी हैं जो हरबार काफी तादाद में पढ़ी जाती हैं।

—दस कविताओं के बल पर तीस वर्ष से कवि सम्मेलनों में भाग लेता रहा हूं।

—गुरु-शिष्य परम्परा का समर्थक हूं और मेरे साहित्यकार-शिष्य राजस्थान के सभी शहरों में हैं।

अनुभव—पाठक अकादमी को लेकर पन्द्रह बार वाक्‌युद्ध कर चुका हूं, तीन बार हाथापाई भी हुई है और दो साहित्यकारों के घिराव में रहा हूं।

—सम्मेलनों में हूट होने पर भी मुस्कुराते रहने का अनुभव है।

—जी-हुजूर से लेकर तेरे-मेरे तक की व्यावहारिकता से परिचित रहा हूं और इसी अनुभव के आधार पर उदयपुर से अपमानित, जयपुर से बहिष्कृत, अलवर से सम्मानित और अजमेर से तिरस्कृत होता रहा हूं।

—पत्रिका का सम्पादन कार्य मित्रों से करवाता हूं ताकि मित्रता के अनुभव का हर क्षण परिचय रहे।

—'साहित्य में फुटबाल','कविता में क्रिकेट','कहानी में सौ गज़ी-दौड़' और आलोचना में 'कलम घिसाई' जैसे सभी विषयों का पूरा-पूरा अनुभव मुझे है।

—गीतकारों में कविता की, कथाकारों में कवियों और कवियों में आलोचना की चर्चायें करने का मुझे अतिरिक्त अभ्यास है।

—नये-पुराने साहित्यकारों में नया-पुराना बनकर रहने का तीस वर्षों का अनुभव है।

कोई अन्य कार्य—फिलहाल बेकार हूं और कार्य की तलाश में हूं। आलोचक के पद की प्राप्ति पर ही अन्य कार्य पूरे किए जा सकेंगे।



शब्दों का संग्रहालय उर्फ एक कविता नगर

नये और यहां-वहां बसे उस नगर में पहुंच कर हमने सबसे पहले यह महसूसा कि अन्य सभी चीजों की निरन्तर हुई बढ़ोत्तरी के' बावजूद अच्छी कविताओं का कोटा कम हो गया है और काफी खोजबीन के बाद कवि तो मिले, कवितायें नहीं मिलीं। फिर मन में यह विचार जन्मा कि यदि यही हाल रहा तो कुछ दिनों के बाद सब्जी-मण्डी के आसपास किसी कोने में ताजी कविताओं का एक सहकारी भण्डार खुलवाना पड़ेगा जहां से परिचय-कार्ड के आधार पर आवश्यकतानुसार कविताएं खरीदी जा सकेंगी।

वहां के निवासी आठ-दस दिनों पूर्व की ओर सस्ती सब्जियों की तरह घटिया, लचर तथा बेतुकी कविताएं खरीदकर काम चलाने लगे थे, मगर कवि होने का प्रमाण-पत्र सभी के पास था। इस दिशा में बड़े बाजार के कवि अग्रगामी नहीं हो सके और छोटे बाजार के कवियों की पहल रही। घटिया दर्जे की कविताएं आखिरीपोल और जंक्शन के पास भी कम नहीं लिखी गईं। स्थिति यह कि कई मकान मालिकों के सिर पर दो-चार मुकदमों का बोझ रहा और सबके पास हर ऊंची गाली में एक ताजी या अकविता गुथी रही। शब्द कोई हो, चाहे उसकी आत्मा से कवि का परिचय हो, न हो मगर उसे लेकर कैसी भी, किसी भी विचार और स्तर की कवितानुमा कोई चीज लिखने तथा बोलने में उस नगर का हर निवासी माहिर था।

कवि वहां कोई भी हो सकता था। मदिरा पीकर तेरी-मेरी बकने वाला भी कवि था, नकलें उतारने वाला भी, होटल के बाहर बैठकर नौकरी का रोना रोने वाला, पशु का डॉक्टर और अस्पताल में सुई लगाने वाला

कम्पाउण्डर भी। लोग हिन्दी साहित्य का इतिहास पढ़ाते-पढ़ाते कवि हो गए थे, पुस्तकालयाध्यक्ष पुस्तकों की सूचियां तैयार करते-करते नई कवितायें लिखने लगे थे और अन्धे-लूले, काने-लंगड़े तथा बहरे शक्तिविहीन होकर भी सुकोमल अंग प्रत्यंगों वाली पांवदार कविताएं लिखाने लगे थे, जो लिख नहीं पा रहे थे।

तात्पर्य यह कि पानवाला भी कवि, चाय-नमकीन वाला भी, बस चले तो परचूनी की दूकान वाला और साइकिल वर्क्स वाला भी। अधिकारी भी कवि, चपरासी भी, थानेदार कवि, कांस्टेबिल भी। अर्थात् सारा नगर कवि और हर कवि की अपनी अलग कविता।

कहा जाता है कि सारा नगर कवितामय था और वहां के सभी छोटे-बड़े काम कवि ही किया करते थे। कवियों पर बड़े-बड़े दायित्व थे। उनकी वहां चलती भी खूब थी और वे अपने में पत्रकार, साहित्यकार, राजनयिक और न जाने कितनी-कितनी खूबियां बताते थे, मगर वे पूर्णरूपेण कवि ही थे। उनका पत्रकार होना संयोग था, राजनयिक होना सौभाग्य और कवि के अतिरिक्त कुछ नहीं होना पहला और विशेष गुण।

उनका विश्वास ईश्वर-प्रदत्त प्रतिभा में नहीं था। वे तो कविता को शब्दों के हेरफेर तक स्वीकारते थे और इसीलिए किसी के पास तुकों का संग्रह था तो किसी के पास शब्द-कोश तथा किसी के पास चुराई हुई काव्य-पंक्तियों का रजिस्टर।

लगता था, सदा नीरा कालिन्दी अपने असली रूप तक आते-आते कविता की शक्ल में बदल गई और उसकी नदी घाटी विकास योजना के समानान्तर वहां एक योजना और क्रियाशील रही कविता घाटी विकास योजना। योजना ने काफी विकास-विस्तार पा लिया था और कवियों की संख्या इस कदर बढ़ी थी कि उस नगर में कवियों को घटाने पर कुछ नहीं बच रह जाता था।

कहीं कवि सम्मेलन होता तो एक लम्बी-चौड़ी सूची हाथ में आ जाती थी कवियों की। एक नगर, हर आदमी कवि। असली कवि दो-चार दस-पन्द्रह आयातित और शेष कहलाने वाले कवि।

अधिकांश कवि शराब की बोतलों की गिनती करते पाये जाते थे, कुछ कवि नदी के किनारे शौचादि से निवृत्त होकर चढाई गई भांग की गोली पर परिचर्चा करते और एकाध किसी आधुनिक गाली का रिहर्सल करते।

यद्यपि वहां के कवि न किसी अच्छी कविता पर दाद देना जानते थे और न किसी स्थानीय कवि को प्रोत्साहित करना तथापि आए दिन कविता-आयोजन होते थे। कवि गोष्ठियां तो हर तिथि विशेष पर होती थी। एक ओर कोई बूढ़े और बच्चे साहित्यकार को लेकर गुरुडम चला रहे थे तो दूसरी ओर कोई प्रदेश की साहित्य अकादमी के नाटक का पर्दा खींचते हुए उसका नाम कविता अकादमी रखने के इच्छुक थे।

मुख्य बात यह कि सब कवि ही रहना चाहते थे और कवि बने रहने के लिए प्रयत्न साध्य। मगर कोई भी एक अच्छी कविता लिखना नहीं चाहता था।

वहां कवियों के अनेक मठ थे, नगर के मध्यस्थ और परकोटे के बाहर। यथा, आयातित कवियों का मठ, रामनाम मठ, गुमनाम एवं छद्मनाम लेखक मठ और श्रीराम का प्रतिभा मठ। कुछ कवि कविताओं की घड़ियां लगाये थे, कुछ कविता की चाट के खोमचे। वास्तविकता यह कि सभी पर शब्द ही शब्द थे, अर्थों में जीने वाला कोई नहीं था।

कविता मन्चों का तो कहना ही क्या, वहां सांप-नेवलों, छिपकलियों, बिच्छुओं और कुत्तों से लेकर परदे की हर चीज पर लिखी कविताएं सुनने को मिलती थीं। कवि गोष्ठियों में जो कविताएं पढ़ी जाती थी, वे कुछ इस प्रकार की होती थीं—

'मेरे शरीर में से
'एक नगर
छोटी बड़ी आंतों में होकर
मलमूत्र के साथ
बाहर निकल जाता है
और यह रोज का क्रम है।' (रोज का क्रम)

× × ×

'मेरे पिता, हे मेरे पिता।
तुमने मेरी जैसी नक़ली औलाद (बिना इरादे की औलाद)
क्यों पैदा की?
तुमने रेयन धागा क्यों नहीं बनाया?'
(नये कवि का दर्द)
मेरे पिता विरोधाभास
मेरी मां जिजीविषा
मेरे भाई संत्रास
और बहनें विसंगतियां
और मैं, बस मैं।' (परिवार)

कवियों का रवैया सबसे हटकर था। जो कवि छपास के विरोध में थे, उनके घरों पर 'सम्पादक के अभिवादन व खेद सहित' की स्लिपें तलाशी जा सकती थीं, और जो कविता छपाने के पक्षपाती थे, वे 'धर्मयुग' के पते में बम्बई के स्थान पर दिल्ली तथा 'कादम्बिनी' का पता टाइम्स आफ इण्डिया प्रेस, बम्बई–1 लिखते थे।

■

कवि बनने के लिए

आजकल कवि बनने, कवि कहाने, और मंच की वाहवाही लूटने के लिए कौन उत्सुक नहीं ? हर पढ़ा-लिखा और जीवन का हारा-थका बटोही कुछ नहीं बन पाने के बाद कवि बनने में ही अपने को सौभाग्यशाली समझता है, लेकिन कविता मानसिक दिवालिएपन की द्योतक नहीं है, उसमें कितनी और कैसी-कैसी स्थितियों से गुजरना होता है, यह कोई उस कवि से पूछे जो जीवन का एकएक क्षण जी कर लिखता है।

भला कोई बनाने या कहने से भी कवि हुआ है ? कवि वह है जो जीवन विषयक पहलुओं को चिन्तन, अनुभूति और कल्पना के साथ प्रस्तुत करता है, हर अनुभूति को वाणी देता है, पर अब यह सब कहने की एक पद्धति भर है।

एक साहब कह रहे थे कि जब अकाल पड़ता है या विषम परिस्थिति अथवा विशेष परिवर्तन होते हैं, तब देश के युगीन कवि काव्य-पाठ द्वारा जन जागरण को स्थायित्व देते हैं, जनता को कविताओं के माध्यम से दिशा-बोध कराया जाता है या जब खाने-पीने को दाना-पानी नहीं होता है, तब कवि पैदा होते हैं और वे कविताओं द्वारा जीविकोपार्जन के लिए धनोत्पत्ति करते हैं।

आज वह सब कहाँ ? आज तो हर स्थिति की विपरीत स्थिति में काव्य का बाना पहनाया जाता है, बेमौसम भी मौसम पर कविता लिखी जाती है, और तो और, कवि सम्मेलनों में कवि नाटकीय ढंग से काव्य-पाठ करते हैं और उनके समकालीन अथवा निर्देशित कवि वाहवाही पाठ करते हैं, कविगोष्ठियों में नये तथा उदीयमान कवि, पुराने, श्रद्धेय और 'ज्ञान-राशि के सचित कोषों' पर कीचड़ उछालते हैं, उन्हें अपमानित कर येनकेन प्रकारेण उन के यश में साझीदार बनना चाहते हैं।

कवियों की तो कुछ लीला ही विचित्र है, मैंने कई एक कवि सम्मेलनों में कवियों पर जूते उछलते, शराब के नशे में धुत्त होने के कारण उन्हें मंच पर लड़खड़ाते और यहां तक कि कवियों को परस्पर हाथापाई करते भी देखा है।

अब सूर, तुलसी, बिहारी, भूषण और देव जैसे जन्मजात कवि कहां रहे। कवि पैदा नहीं होते—बनाए या कहलाए जाते हैं, और सच यह भी है कि कवि होने का कहीं से कोई प्रमाण-पत्र तो मिलता नहीं, न ही मंचों से काव्य-पाठ करते हुए कोई रोक सकता है। आज के कवि आमन्त्रित न होने के बाद भी मन्चों से कविता पढ़ना बुरा नहीं समझते। मैंने एक कवि सम्मेलन में तीन सौ से भी अधिक संख्या में कवियों को एकत्र देखा है। यही कारण है कि अब कवि सम्मेलनों में न तो कवि नजर आते हैं और न ही कोई अच्छी कविता सुनने को मिलती है।

स्थिति यह है कि काव्य की आलोचना करने वाले भी कविता करते हैं, और जब वे अपनी कविता में कोई अच्छी बात नहीं दे सकते तब दूसरी कविताओं की वे समुचित परख कर सकेंगे, हमें समझ नहीं आता। एक नए कवि ने नई पीढ़ी के संदर्भ में कहा था, 'कविता किसी को रुचे न रुचे, उसका प्रकाशन-प्रसारण हो न हो, वह कोई अर्थ रखती हो या अर्थरहित हो, नई कविता हो अथवा परम्परागत, इस सब से कवि को क्या? कवि का कर्म था लिखना और यदि कविता लिखकर भी न लिखी गई तो इसमें उसका दोष नहीं, कविता के भाग्य को ही कोसा जा सकता है।'

एक दूसरे कवि ने एक मूल्यांकन-गोष्ठी में कहा—'यह नई कविता क्या है और इस की पूंछ कहां है? हमें तो लगता है नई-पुरानी कविता का विवाद बेमानी है। जिसको कवि ही न समझे, वह कविता कैसी ?' और जब उन्हीं कवि महोदय ने 'भाव' शीर्षक की कई एक कविताएं सुनाईं तो श्रोताओं को कविजी का कथन अपने में पूर्ण लगा। ऐसी गोष्ठी में किसी लोकप्रिय कवि ने मुक्तक को रुबाई कह कर पढ़ा और जब मुक्तक और रुबाई के मौलिक अन्तर पर बहस चली तो कवि ने कहा—'मुक्तक हिन्दी में लिखे जाते हैं, रुबाई उर्दू में लिखी जाती है, पर 'हिन्दी-उर्दू' तो

एक ही भाषा है ।' सुन कर विस्मय हुआ, लेकिन किसी को कविता लिखते-सुनाते और छपवाते कोई रोकटोक भी तो नहीं सकता ।

अब हिन्दी साहित्य में छन्दबद्ध, मुक्त छंद, नई कविता, ताजी कविता, भाव, अकविता, जैसे अनेक नामों से कवितायें लिखी जा रही हैं। ऐसी अंधी दौड़ में किसी को रोकना तो दूर, पावों के कांटे निकालना भी संभव नहीं । आज कविता लिखना, किसी को गुरु मानकर कवि सम्मेलनों तक पहुंचना या किसी सम्पादक के चरणस्पर्श से पत्र-पत्रिका में प्रकाशित होना अथवा आकाशवाणी के किसी केन्द्र विशेष से कविता प्रसारित कराना कोई बड़ी बात नहीं समझी जाती ।



आप भी लेखक बन सकते हैं !

आजकल जिसे देखो वही लेखक बनने, कहाने और इस रूप में पूजे जाने की एक प्रबल आकांक्षा रखता है, चाहे कोई दो जमात ही पढ़ा हो या मैट्रिकुलेशन की सनद प्राप्त हो अथवा नौकरी की तलाश करता-करता बेकार रह गया हो, वह लेखक बनने में ही अपना सौभाग्य समझता है।

कल ही की तो बात है। मुहल्ले में कुछ लोग जमा थे और वहां ज्ञान दर्जी का बेटा किशन बड़े जोरों से अपनी शान बघार रहा था, 'अजी, पढ़ाई में क्या खाक रखा है ! दिनरात पढ़ो, फिर नौकरी का जोड़तोड़ बैठाओ। इस पर भी हाथ तंग का तंग। नौकरी करते हुए भी बेकार, इससे तो अच्छा है लेखक बन जाएं, चार इधर की लें, चार उधर की और एक अच्छा खासा लेख तैयार करलें। इससे यश भी मिले और पारिश्रमिक भी. इसे कहते हैं—आम के आम, गुठलियों के दाम।'

तभी समीप खड़े लच्छू महाराज के खलीफे गोवर्धन ने कहा, 'ठीक कहते हो, भाई ! अरे, देखो न कछावा को, बोलते वक्त पान का पीक उछाला करता था। आज कवियों और लेखकों की सोहबत में रहता है।'

'लिखता क्या है—खाक ! कतरन कवि है, पूरा कतरन कवि। कभी किसी की लाइन मारली, कभी किसी की, वह तो चोरी की कला में माहिर है,' किसी पढ़ेलिखे समझदार युवक ने कहा। उस की बात के समर्थन में एक बुजुर्ग बोले, 'हां, अब पहले जैसे लेखक रहे ही कहां ! अब तो दस किताबों को खोलकर एक नई किताब लिखी जाती है। देखो न, कल तक लखिया का बेटा गिरिजाशंकर पान की दूकान लगाता था, फिर रेवड़ियां बेचने लगा, धंधा नहीं चला तो किताबों की एक दूकान पर

सेल्समैन हो गया और आज....आज तो साहब कहना ही क्या ! कवि भी है, लेखक भी है और फोटोग्राफर है।'

'ठीक कहते हो, भाई ! आज तो लेखन एक व्यवसाय जैसा हो गया है, किसी ने कहा और बात आई गई हो गई।

मगर मैं उसी बात को फिर दोहरा रहा हूं और जोर देकर कह रहा हूं कि आज लिखना कोई सिद्धि पाना नहीं है, न ही लिखने से किसी का कोई हित होने वाला है। आज लेखन सौ फीसदी एक व्यवसाय है, और यह व्यवसाय आप भी कर सकते है। आप भी लेखक बन सकते हैं, बशर्ते कि आप कुछ नुस्खे अपनालें।

आप पूछेंगे, 'ऐसे कौन से नुस्खे हैं ?'

तो सुनिए और अपनी डायरी मे नोट कर लीजिए।

पहला नुस्खा है: कतरन पद्धति का प्रयोग, यह पद्धति नौसिखिए लेखकों द्वारा चलाई या प्रचलित की गई हो, ऐसी बात नहीं है। आज के मूर्धन्य और लब्धप्रतिष्ठ साहित्यकार भी इस पद्धति का प्रयोग करते हैं। यह पद्धति है—कुछ चुनी हुई पुस्तकों और पत्रों से कुछ सारगर्भित पंक्तियों को अलग से नोट करके अपनी रचनाओं में जोड़ना, इससे जिन पुस्तकों से पंक्तियां उद्धृत की जाएंगी उनके लेखक तो कृतकृत्य होंगे ही, साथ ही आपके स्वाध्याय की भी मुक्त कंठ से सराहना होगी। और कुछ न भी बना तो कम से कम आपकी विद्वता की धाक तो जम ही जाएगी। कहिए, कैसी है यह पद्धति ? सकुचाइए नहीं, आज के बहुत से जाने माने साहित्यिकों को इस पद्धति ने कुछ से बहुत कुछ बना दिया है।

दूसरा नुस्खा है : लोक गीतों और लोक कथाओं के नाम पर खानापूरी की पद्धति। यह बात अब आपके लिए नई नहीं है, चन्द लोक गीतों की पंक्तियों को लेकर लोग लोक साहित्य के नाम पर कचरा प्रस्तुत कर रहे हैं, लेकिन सत्य यह भी है कि इसी कचरे से उनका जीविकोपार्जन हो रहा है। फिर भला आप क्यों चूकें ! कहीं इससे भी सरल पद्धति है लेखन की ?

आप किसी भी विषय पर कुछ पंक्तियां लिख लीजिए और बीच-बीच में उसी विषय से सम्बन्धित कुछ गीतों की पंक्तियों उद्धृत कर दीजिए। मगर ध्यान रहे, गीतों की पंक्तियां जोड़ते वक्त लेख का तारतम्य नहीं टूटना चाहिए, और इसके लिये कुछ शब्द और अधूरे वाक्य हम बताते हैं, जैसे, 'गीतों का सौन्दर्य अवलोकिए,' 'एक बानगी देखिए,' 'कितना सटीक बैठा है,' 'श्लाघनीय है,' 'देखते ही बनता है,' 'लोकधारा का अजस्र रूप' आदि। है न सरल पद्धति ?

तीसरा नुस्खा भी सुनिए : यह है सामयिक रचनाओं के लेखन की पद्धति। यह पद्धति भी अपने में अनूठी है, सामयिक रचनाओं के लेखन में इस पद्धति के प्रयोग से असुविधा नहीं होती। जैसे आपको कोई योजना विषयक रचना लिखनी है तो कुछ शब्द है जिन्हें आप रचना में गूंथ लीजिए, रचना पूर्ण हो जाएगी। शब्द है—खेत, खलिहान, फसलें, कुदाली, फावड़े, रहट, स्वेद, श्रम, पौरुष और विकास। कहिए कितनी सरल पद्धति है ! कोई भी इन शब्दों को पंक्तियों में कैसे भी जड़ ले, सरकारी पत्रिकाओं में तो उसकी रचना छपेगी ही।

अब आइए, चौथी और अन्तिम पद्धति पर। यह है लेखन-प्रकाशन की सहकारी पद्धति। यह पद्धति आज के युग की मांग हो गई है। जीवन के और क्षेत्रों में जैसे सहकारिता का महत्व है ठीक वैसे ही लेखन और प्रकाशन में भी है। आप किसी भी लेखक पर कुछ शाब्दिक विशेषणों द्वारा उस के व्यक्तित्व तथा कृतित्व पर कुछ भी और कैसा भी लिख दीजिए, आपकी रचना भी प्रकाशित होगी और पारिश्रमिक के साथ-साथ आपको एक साहित्यकार मित्र भी मिल जाएगा। कभी वह आप पर कुछ लिख देगा, कभी आप उसके लिखे पर अपना अभिमत देंगे और यह परम्परा अनवरत रूप से चलती रहेगी।

इस तरह आपको लेखक बनाने का श्रेय आपके मित्र को होगा और मित्र को पुजाने का श्रेय आपको। आज यह बात नए से नए लेखकों से लेकर मान्यता और नामधारी लेखकों तक में आप देख सकते हैं और अगर आपका कोई मित्र, सगा सम्बन्धी या कोई सुपरिचित किसी पत्रिका का

[illegible]

[illegible]

[illegible]

मक्खन की आधुनिक परम्परा

मक्खन के बारे में ऐसा है कि आप इसमें चीनी मिलाकर खाइए, स्वादिष्ट भी लगेगा और स्वास्थ्यवर्द्धक भी रहेगा। मगर मक्खन खाने वाली बात कृष्णयुगीन थी जो पिछली कई पीढ़ियों तक चली और बिरानी हो गयी। अब लोग मक्खन नहीं खाते, दूसरों के मक्खन लगाते हैं। यानी वे अपने को अति साधारण और अल्पज्ञात-सा प्रस्तुत कर दूसरों को सुविज्ञ, कार्य कुशल तथा सक्षम घोषित करके अपना उल्लू सीधा करते हैं। आजकल मक्खन का उपयोग आदमी को बनाने और बनाये रखने की दिशा में अधिक हो रहा है। दूसरी ओर दूसरी-तीसरी तरह के लोग मक्खन लगवाने के आदि होते जा रहे हैं।

मक्खन लगाना आज का एक शानदार मुहावरा है, जिसे लोग शान के साथ अपनाए हुए हैं। उनका कहना है कि मक्खन वाले लोग अव्वल दर्जे के मूर्ख थे। जो सुख और आनन्द मक्खन लगाने में है, उससे भी कहीं अधिक सुख मक्खन लगवाने में है।

लोग मक्खन लगाते-लगाते जाने क्या से क्या हो गए हैं। उन्हें हम किसी भी दृष्टि से देखें, मगर वे अपने में इतने प्रवीण हैं कि उन्हें प्रवीण चन्द्र छायादार कहना चाहिए अर्थात् चतुर चन्द्र छज्जे वाले।

मक्खन की आधुनिक परम्परा का निर्वाह हर आदमी के बूते की बात नहीं। ज्ञानी-मानी ध्यानी तो इस परम्परा से अनुकूलन तक नहीं कर पाए। सज्जन, शिक्षित और सुसंस्कृत व्यक्ति इस परम्परा का विरोध करके कष्टग्रस्त हैं। अपने अहं का ढिंढोरा पीटने वाले साहित्यकार इस परम्परा से कटकर अज्ञात होते जा रहे है।

नयी कविता का नया कवि किसी के मक्खन नहीं लगा सकता और न ही नई कहानी का कोई लेखक। गीत के लोग जन सामान्य से लेकर

बड़े-बड़े शिक्षा शास्त्रियों, अधिकारियों तथा मन्त्रियों के मक्खन लगाने में सफल हो सकते हैं, बशर्ते वे अच्छे गायक भी हों।

प्रतिभा सम्पन्न व्यक्ति के लिए मक्खन लगाना बड़ा कठिन कार्य है और जो कुछेक लोग ऐसे है भी तो उनकी संख्या न्यून ही रही है। प्रतिभा-हीन प्रतिभावान ही मक्खन की आधुनिक परम्परा का किसी हद तक निर्वाह कर सके हैं। इस कार्य मे उन्हें भी अधिक सफलता नही मिली है। कोई भी सामतशाही का अवशेष या ब्राह्मणत्व का सही अर्थ समझने वाला अथवा हर किसी के आगे मिमियाने वाला व्यक्ति अच्छा मक्खनबाज हो सकता है।

कभी मक्खन लगाने में कायस्थों की अपनी पहल थी। तब पढ़ी-लिखी और चतुर कौम ही अच्छा मक्खन लगा सकती थी। मगर ब्राह्मणों ने बाद में ऐसी प्रगति की कि कायस्थों को यह क्षेत्र छोड़ना पड़ा। वैश्यों ने इसकी अपेक्षा मक्खन लगवाना उचित समझा। स्थिति यह रही कि न तो कायस्थ, न ब्राह्मण न वैश्य और न राजपूत। एक अलग ही क़ौम इस क्षेत्र मे बाजी मार ले गई।

मगर मक्खन की परम्परा का विकास और विस्तार आधुनिक युग के चार महान व्यक्तियों से मिला। वह है—श्रीयुत सर्वगुण सम्पन्न भडारी, श्रीमान् चमचेलाल मंत्रणाधिकारी, श्री रामबिहारी कारगर और चौथे मिस्टर चुन्नीलाल चूने के ठेकेदार।

भण्डारी जी का सेन्ट्रल स्टोर

भण्डारी जी सेन्ट्रल स्टोर के मालिक हैं। शहर की सारी आवश्यक वस्तुएं आपके यहां स्टोर की हुई हैं। ढूंढ़ने से आपके स्टोर मे आदमी का आदिम भी कहीं गुप्तावस्था में मिल सकता है। सेन्ट्रल स्टोर का दायित्व आपको क्या मिला, आप तो उसके मालिक बन बैठे।

शुरू शुरू मे आपने एक नेता की खैर-खुशहाली के लिए थोड़े से प्रयत्न किए थे। नेता ने प्रसन्न होकर आपको मक्खन लगाने का गुर सिखा दिया, फिर क्या था आप दमड़ीलाल से चमड़ीलाल और अन्त में नगर सेठ बन बैठे।

सुना है, आजकल आप मक्खन परम्परा का इतिहास लिख रहे हैं, जिसमें आपने अपने निजी संस्मरणों तक का उल्लेख किया है।

चमचेलालजी की विदेश यात्रा

मक्खन परम्परा के समर्थकों में लाला चमचेलालजी का विशेष हाथ रहा है। आप बड़े ही व्यवहार कुशल, मृदुभाषी, साम्प्रदायिकता के कट्टर विरोधी मगर परिवार कल्याण कार्य के प्रबल समर्थक रहे हैं। आप शुरू बचपन से ही मक्खन के हो मक्खन लगाते रहे हैं। जब आप पढ़ते थे तब अध्यापकों के आपने ऐसा मक्खन लगाया कि एक के बाद एक कक्षा में चढ़ते ही चले गए।

दस जमात पढ़ने के बाद आप राजनीति में आ गए जहां आपका प्रथम परिचय अखिल भारतीय स्तर के मक्खन बाज जगतपाल शिरोमणि से हुआ और तभी से आपने मक्खन लगाना शुरू किया। सबसे पहिले आपने अपने आदिगुरु शिरोमणि जी के हो मक्खन लगाया। फलतः आप जन-नेता घोषित कर दिए गए। सभा सोसाइटियों में उठते बैठते प्रवचन देते और सम्पर्क करते-करते आपने मक्खन की कला में इतना सब जान लिया कि आपको विदेश यात्रा तक का अवसर मिल गया।

एक इण्टरव्यू में आपने बताया कि जीवन में यदि कुछ बनना है तो मक्खन लगाने की कला सीखनी बड़ी अनिवार्य है और ऐसी कला की जानकारी के अभाव में आदमी कुछ भी नहीं है।

आपने यह भी बताया कि जरा-सा मक्खन बड़े से बड़े कार्य को तुरन्त करवाने में काफी होता है। आजकल आपने मक्खन प्रशिक्षण केन्द्र की स्थापना की है जहां से प्रतिवर्ष कम पढ़े लिखे लोग मक्खन लगाने का पाठ्यक्रम पूरा करके डिप्लोमा प्राप्त कर रहे हैं। आप केन्द्र के प्राचार्य हैं और सम्पर्क में आने वाले लोगों को मक्खन के विषय में मंत्रणा देते हैं।

कारगर साहब के नये कारनामे

तीसरे व्यक्ति हैं श्री बिहारीलाल कारगर। आप हर कार्य को करने में इतने कारगर हैं कि हर नये कारनामे से आप सम्बद्ध होते हैं।

नगर में चाहे कैसी भी तब्दिली हो, आप सदाबहार रहते हैं। उखाड़ पछाड़ में आपका मक्खन इतना कारगर है कि बिगड़ा हुआ काम भी आप सुधार लेते हैं।

आप कवि भी हैं, लेखक भी और कभी-कभी अध्यापक भी। मगर आप कभी कुछ नहीं लिखते। आप इतने मधुर है कि जिस कवि की कविता चुराते हैं, वह आपसे झगड़ता तक नही। लेखक ऐसे हैं कि पहिले कभी छपे, किसी लेख को अपने नाम से छपवा लेते हैं और उस पर अपना मालिकाना हक बताते हैं। दुनिया भर की विसगतियों और सारे विरोधाभासों के आप धनी हैं। मगर मक्खन बाज ऐसे हैं कि सब चलता है।

यानी आपने कविताएं नही लिखी और आपके नाम से कविता संग्रह छपा। आपने गद्य नही लिखा और पुराने छपे लेखो के सग्रह पर आपका नाम छप गया।

साहित्य की चोरी करके साहित्यकार कहाने को आप सदैव लालायित रहते हैं। भला हो उस नेता का जिसने आपको जरा से मक्खन लगाने पर आपके लिए सुख-समृद्धि के द्वार खोल दिये।

चूने की ठेकेदारी

मिस्टर चुन्नीलाल मुन्नीलाल चूने के ठेकेदार की प्रतिष्ठा नगर की औद्योगिक बस्ती में काफी चर्चित रही है। आप अपने कारोबार से अधिक कार्यलयी कर्मचारियो और अधिकारियों की सोचते हैं। आपने मक्खन लगवाने में सदैव अपने को सौभाग्यशाली अनुभव किया है।

आप चूने के ठेकेदार हैं, मगर लोग आपके चूना लगाने मे कोई कोर कसर नही रखते। आप हैं कि कारोबार के अधिकारियों की पदोन्नतियां उनकी पत्नियों की सुन्दरता के आधार पर करते रहे हैं। मात्र यही कारण है कि कुछेक लोग पदोन्नतियो के लिए आपके मक्खन लगाते अघाते नहीं हैं।

आप जब नगर से बाहर जाते हैं या बाहर से नगर में आते हैं, तो कारोबार के सभी अधिकारी सपत्नीक स्वागत मे उपस्थित होते हैं। किस की पत्नी आई या नही अथवा कौन औरत अधिक सुन्दर है, आप इस सबका पूरा-पूरा ध्यान रखते हैं।



झूठे लोग

झूठ बोलने में भारतीय बड़े माहिर हैं। उनकी झूठ का कोई जवाब भी नहीं। उन्हें झूठ बोलने की बेशकीमती आदत से बड़े लाभ मिले हैं। सामाजिक प्रतिष्ठा के अभाव में झूठ बोलना सम्मान एवं सुखानुभूति का कारण बन जाता है। प्रायः देखा गया है कि झूठ सच से महंगे भावों में बिक जाती है तथा सरे आम उसके भाव लग जाते हैं। झूठा आदमी आदतन ढाई सौ झूठ रोज बोलता है। झूठ का कोई धर्म, वर्ण, जाति या रूप नहीं होता बल्कि झूठ चल गई तो मकसद पूरे हो जाते हैं अन्यथा सब चलता है। झूठ ही है कि लोगों के नजरिए बदल जाते हैं, ठाले मसखरों की रोटी का जुगाड़ बैठ जाता है और नाचीज बहुत कुछ बन जाते हैं।

पिछले दिनों अमरीका की ओरेगन स्टेट यूनिवर्सिटी मे झूठ और गप्प मारने की प्रतियोगिता हुई जिसमे बम्बई के प्रफुल्ल मिश्र ने 'महानतम गप्पी' का खिताब जीता। उन्होंने हजारों मील दूर जाकर एक झूठा किस्सा सुनाया, गप्प सम्राट की उपाधि प्राप्त की और एक नहीं, दो खिताब जीते जिससे प्रतियोगिता में भारतीयो का सिर ऊंचा हुआ। मिश्र को झूठ बोलने के खुले मुकाबले मे प्रथम रहने पर बड़ी प्रशंसा मिली। उन्होंने मुकाबले में हिस्सा लेते हुए एक किस्सा सुनाया कि किस तरह से उनकी आत्मा ने एक पक्षी का रूप धारण किया। फिर उसे क्या-क्या अनुभव हुए। इसी प्रकार रोमांचक झूठे किस्से तथा शिकार करने और मछलियों को पकड़ने के किस्सों के दो खिताब अमेरिकियों ने भी जीते। एक प्रांत के पुलिस प्रमुख ने भी प्रतियोगिता मे भाग लिया, लेकिन वे इनाम नहीं जीत सके।

लगता है पुलिस झूठ पकड़ सकती है, बोल नही सकती और बोले भी तो झूठ आम आदमी तक पहुंचते-पहुंचते खुल जाती है।

जरा आसपास नज़र फेंकिए, आपको ऐसे घिनौने पात्र और मिल जाएंगे। जन्म के झूठे, उमर के बोझे और ओछी हरकतों के बेवजह जिन्दगी जीने वाले लोग। आप उनकी झूठ पर विचारेंगे तो खुद झूठे हो जाएंगे।

दरअसल देश में झूठ बोलने वालों की संख्या अभी भी काफी बड़ी है, झूठे लोग सब कहीं दूकान जमाए बैठे हैं। वे बाजार को भी गलत करते हैं, शहर की बस्तियों को भी। शायद यही कारण है कि अच्छे लोगों का विश्वास बाजार से उठ रहा है।

समय का फेर है सत्यवादी हरिश्चन्द्र और महात्मा गांधी के देश में लोग सत्य सुनना या कहना पसन्द नहीं करते और जो झूठे हैं उनकी घुसपैठ सब तरफ है। यदि झूठ या गप्प से कोई सम्मान मिलता है तो भारतीय इस दिशा मे भी पीछे क्यों रहें। एक झूठ ही है जो बार-बार बोलने से सच हो जाती है जैसे सिवाय जीवना एक सच है।



उनके हाथ लगा साहित्य का खजाना

उस जमाने में कलकत्ता आज जैसा महानगर नहीं था और वहां गरीब-अमीर सभी का गुजर बसर था। बड़ा बाजार की संकरी गली की एक खन्दक में प्रिंटिंग प्रेस का पुराना-सा बोर्ड लटक रहा था जहां हमारे गांव के मुफ्तीलाल कम्पोजीटर हुआ करते थे। शरीर से पतले दुबले मरियल और मन से खोटे खटियल। चोरी करना उनकी आदतों में शुमार था और वे अव्वल दर्जे के बेईमान, झूंठे और घटियल थे। छपनिया अकाल ने जब खेतों की फसलें चौपट कर दो, गांव में कोई व्यापार-व्यवसाय नहीं रहा और देनदारी बढ़ गई तो वे लोटा-डोरी लेकर बाहर निकल गये। कलकत्ता पहुंचे तो गोकुल सुनार की मदद से प्रेस मे जुगाड़ बैठ गया। तब बड़ा बाजार में कोई दूसरा प्रेस भी नही था और जॉब वर्क के साथ साहित्यिक कृतियां उन्ही की प्रेस मे मुद्रित होती थी।

उन्ही दिनों विलक्षण काव्य प्रतिभा के धनी एक कवि की कुछेक कृतियों की पाण्डुलिपियां मुद्रणार्थ प्रेस मे दी गयीं और कुछ दिनो बाद ही वह कवि ज्वर से पीड़ित होकर मर गया। तभी गांव के मुफ्तीलाल को धर्मपत्नी मांगी देवी की अस्वस्थता का फर्जी तार मिला और वे गांव लौट आए। आते समय प्रेस की पाण्डुलिपियां भी चुरा लाए। प्रेस मैनेजर ने कई तार भेजे, पाण्डुलिपियां लौटाने की बात भी लिखी, किन्तु सम्पर्क सूत्रों ने मुफ्तीलाल को मृत घोषित कर दिया और इस तरह साहित्य का वह खजाना जिसमें प्रबन्ध काव्य, खण्ड काव्य, फुटकर काव्य और कविताओं की डायरियां थी, गांव में ही रह गया।

मुफ्तीलाल के पुत्र गश्तीलाल दस जमात भी नहीं पढ़े थे किन्तु साहित्य का खजाना उनके हाथ क्या लगा, वे साहित्य के अध्येताओं को

ज्ञान पढ़ाने लगे, वे महाकवि हो गए। ज्ञान राशि के संचित कोष ने उनका जीवन ही बदल दिया। उनका दिमाग चौथे आसमान और दिल नानी बाई पानवाली की दूकान से जुड़ गया। जर्दियापान से मुंह फुलाए वे पहले तो साहित्य लेखक होने की नाटकीयता को जीने लगे और फिर उन्होंने फुटकर कविताओं को यहां वहां की पत्रिकाओं में बिखेर दिया। पहले उनकी कविताएं छपीं, फिर उनके नाम से खण्डकाव्य और महाकाव्य भी छपे और वे बिना पढ़े ही ज्ञानी समझे जाने लगे। उनके लेखक होने का भी ढिंढोरा पिटवाया गया। उन्हे अभिनन्दित होने का शौक भी चर्राया। वे साहित्याना लहजे मे बतियाने लगे और उन्होंने सूरत शक्ल भी पुराने कवियों जैसी ही बनाली। उनकी कारगुजारी से नावाकिफ लोग और हिन्दीसेवी संस्थायें उनके सम्मान आयोजन में माध्यम बनी। गरज यह कि वे प्रतिभाविहीन होने के बावजूद प्रतिभा सम्पन्न हो गए और उनके साहित्यकार होने का सिक्का सरकारों एवं अकादमियों और विद्यालयों, विश्वविद्यालयों तक चल गया, किन्तु गांव में वे मुफ्तिया हो कर रहे और उनकी कोई साख नहीं रही। जब इस सबका पता कलकत्ता प्रेस के मालिक को लगा तो उसने लिखत-पढ़त की और गश्तीलाल के नाम से प्रकाशित सभी कृतियां बाजार से उठाली गईं। फिर वे कृतियों से नहीं, अपने कुछ होने के प्रचार से चंदा जुटाने लगे।

गश्तीलाल के नहीं रहने के बाद उनका ज्येष्ठ पुत्र भिश्तीलाल साहित्यकार बनने के लिए छटपटाया और गांव मे खदरों की तरह बासी होकर रह गया लेकिन साहित्यकार का चोला पहनकर देशाटन करता रहा। खजाने की शेष कृतियां उसके नाम से बाजार में आई और वह अमुक-तमुक व्यक्तियों तथा संस्थाओं द्वारा अभिनन्दित किया गया। समूचे साहित्य जगत को धोखा देकर वह याचक मुद्रा लिए सेठ साहूकारों में अपने कवि होने को प्रचारित करता रहा। वह काजल टीकी (काला), मीना बाजार (कला संग्रह) चौक की ककड़ी (संस्मरण) हवेलीराम का चबूतरा (आत्म-कथा) के लेखक रूप में फिर उभरा और उसने दाम भी [illegible]। भिश्तीलाल के परिवार में खैरातीलाल एवं उनकी बधू..."

साहित्य

उनकी पुत्री भी साहित्यकार कहलाने की परम्परा में वयू में रहे। चुराए हुए साहित्य के खजाने से सारा परिवार साहित्यकार मय हो गया।

पतली दुबली टांगों ग्रोर होलडोल से पेट तथा काने घड़े जैसा चेहरा लिए भिश्तीलाल विधवा की सूरत लिए घूमता रहा। लोग उसे मुतहा महाराज कहा करते थे। वह बाहर से कपटी एवं मसखरा ग्रोर भीतर से कुंठित लुंठित-ईर्ष्यालू था। गांव वालों को उससे बड़ी एलर्जी थी ग्रोर वह था कि गाव में गन्दगी फैला रहा था। एक पुलिस ग्रधिकारी ने उसे जिंदा या मृत पकड़ने के लिए इनाम घोषित किया है। सुना है वह ग्रण्डमान निकोबार द्वीप चला गया है ग्रोर वापस नहीं लौटा है। समझदार लोगों का कहना है कि वह कुछ दिन पहले खाड़ी देशों में देखा गया है।

यदि ग्रापको उसका कोई सुराग मिले तो कृपया सूचित करें, साहित्यकारों ने उसकी गिरफ्तारी के लिए दस हजार रुपये का पुरस्कार घोषित किया है। यह भी हो सकता है कि वह रुपयों के मोह में खुद ब खुद गिरफ्तार हो जाए।



/महाकवि शुतुरमुर्ग

दुर्वासाजी का अभिनन्दन

चुगली नगर निवासी एवं भूखे सन्यासी बाबा मांगीलाल 'दुर्वासा' को अभिनंदन करवाने का बड़ा शौक था और अभिनंदित नहीं होने की स्थिति में वे भीतर ही भीतर छटपटाते रहते। विवश होकर वे समाचारों मे अभिनन्दित हो जाते, अपने बारे में स्वयं समाचार लिखकर छपवाते। हम उनकी कमजोरी समझ गए तो उन पर तरस भी आया और हमने कुछ अनायास कुछ सप्रयास पंक्तियां लिखकर एक अभिनंदनपत्र तैयार किया है। इसे अभी सार्वजनिक स्थलों पर चस्पा करवाया जायेगा। यदि कोई स्वयंसेवी संस्था पसद करेगी तो मुद्रित कराकर दुर्वासाजी को अभिनंदित कर सकेगी अन्यथा उनका नाम ही गली-कूचों में चर्चित होगा।

मन को भूखे, कुंठित-लुंठित, ईर्ष्यालु

पूर्वाग्रही-दुराग्रही

फटीचर एवं गर्दभराज नामधारी साहित्यकार दुर्वासाजी की

सेवा में सादर समर्पित अभिनंदनपत्र–

हे भूखे वंशजः—

आप जब जन्मे थे तब आपके परिवार में भूख का बड़ा बोलबाला था और आपके पितामह पितामही माता-पिता तथा सबंधी भूखे थे इसलिये आपको विरासत मे भूख ही मिली। आपकी संतानें भी भूखी ही रहेंगी। आपके मन की भूख भिक्षावृत्ति से भी नही मिटी तो भूखमय जीवन जीना आपकी नियति बन गई है। आप भूखे ही जन्मे थे और भूखे ही मरेंगे। चालीस वर्षों से आपने कोई कामकाज नही किया, न कुछ लिखा न कुछ पढ़ा किन्तु साहित्यकार बने रहने का स्वांग रचते रहे।

आपने माग-माग कर घर तो भर लिया किन्तु पांव में टूटी चप्पल पहनना आपकी आदत में शुमार रहा।

हे भूख के प्रतीक! आपने अपने को अन्त्योदयी भी घोषित किया है। ईश्वर करे आप जैसे हैं वैसे ही बने रहें। आपका अभिनंदन करते हुए हम गौरवान्वित तो नही हैं किंतु सुखी जरूर हैं। यह सोचकर कि आपको दूसरा कोई अभिनंदित नही करेगा और जब देश मे मरणोपरांत भी सम्मानित करने की परंपरा है तो आपको मरी हुई अस्मिता का आदमी मानकर भी सम्मानित किया जाए तो गलत नही होगा।

छलियाजी

मानवीय दुर्गुणों के साथ आप मे छल की मात्रा अधिक है। आप सरकारों और अकादमियों को लेकर संपादकों, पत्रकारों तथा आम आदमी को छलते रहे। लोग तो मूर्खों को छलते हैं, आपने शिक्षितों–विद्वानों को छलने में भी कोई कसर नहीं छोड़ी। इनके लिए आप बधाई के पात्र है।

कपटी करोड़पति

दुर्वासाजी अपने कपटी कामों से करोड़ों की संपत्ति बनाई है और आपके नाम से चुगली नगर में दो मदिर, एक समाधि-स्थल तथा तीन जमीनो के टुकड़, दो मकान और दो प्रेसें हैं। आपको समाज ने या देश मे करोड़पति तो नही कहा किंतु आसपास के क्षेत्रों मे आपको कपटी करोड़पति नाम से जाना जाता है। सुना है 'आप अरबपति बनने की नयो योजना के निर्माता हैं और नगर मे अगली पीढ़ियो के लिए कोई *'भिक्षालय' बनवाना चाहते हैं।'*

बूढ़े चुगलखोर

बाबाजी आप उम्र से जरूर सठिया गए, किंतु आपकी बच्चों सी चुगलियां करने की आदत और औरतों को पथ विचलित करने के शौक से लगता है आप किसी की नाजायज संतान हैं, आप संस्कारित नही। *सुबह से शाम और आठों याम किसी न किसी की चुगलियां करना आपके* स्वभाव मे है इसलिए अच्छे लोग आपको पास भी नहीं फटकने देते। *आप*

तो लिखना जानते नहीं । किसी और से अपनी चुगलियों का इतिहास जरूर लिखवाएं इससे आपकी प्रसिद्धि बढ़ेगी ।

मसखरे–सिरफिरे

आप पैदाइशी मसखरे एवं सिरफिरे हैं इसलिए आपका संबंध बाजारू लोगों से अधिक है । कोई एक साहित्यकार भी आपका मित्र नहीं है । घटिया किस्म के बदतमीज, बदजुबान और समाज से बहिष्कृत लोग आपको सम्मान दें तो कोई नई बात नहीं होगी । जैसे आप हैं वैसे ही लोगों का आपको सहयोग मिलेगा । हम ईश्वर से कामना करते हैं कि ईश्वर आपको ऐसा ही बनाये रखे और आपका सुख भी इसी में है ।

औरताना आदमी

जिस तरह सातवीं शताब्दी में बाणभट्ट औरताना लिबास में अंतःपुर में चला गया था और उसने भट्टिनी को मुक्त कराया था आप भी कुछ परिचित परिवारों में पहुंच कर वहां की औरतों को प्रचार के रास्ते दिखलाते हैं, उन्हें मुक्त कराते हैं । इस माने में आपको बाणभट्ट का अवतार कहा जा सकता है ।

श्वान देवता

आपको नगर में काले चितकबरे पीले और सफेद कुत्ते अपना देवता समझते हैं, आपको पूजते हैं । आखिर आपने इस मृत्युलोक में आकर देवता रूप तो ग्रहण किया अन्यथा हमें आपमें और श्वानों में कोई अंतर नजर नहीं आता ।

हिटलर झूठों का सरताज निकला

हिटलर का विश्वास था कि अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए कोई आसान झूठ नहीं, सफेद झूठ बोलना चाहिए और उसने ऐसा ही किया। उसने हर झूठ को बारम्बार दोहराया। उसका कहना था कि जनता की बुद्धि मोटी होती है और वह निरी भुलक्कड़ होती है। शासन को निस्संकोच एवं निर्भय होकर झूठ बोलना चाहिए और तब तक झूठ बोलना चाहिए जब तक जनता को विश्वास न हो जाए।

उसने अपने इस सिद्धान्त का अक्षरशः पालन किया। अपनी बातें बघारने, मनगढ़न्त कथायें सुनाने, गलत प्रचार करने और जनता को मूर्ख बनाये रखने के कारण वह 'झूठों का बादशाह' कहलाया। उसे बेसिर-पैर की बातें करने और दोहराने में कभी हिचकिचाहट नहीं हुई जिनका झूठापन सिद्ध हो गया था। वह अच्छी तरह जानता था कि जब तक ब्रिटिश की सेना को पंगु नहीं बना दिया जाएगा, उसका संसार पर प्रभुत्व स्थापित करने का स्वप्न सत्य नहीं होगा। इसलिए जबसे लड़ाई आरम्भ हुई, वह बढ़ा-चढ़ा कर ब्रिटिश जहाजों के डूबने की खबरें छापता रहा, प्रचारित करता रहा।

सफेद झूठ

युद्ध के दौरान 27 सितम्बर, 1939 ई. की एक जर्मन विज्ञप्ति में कहा गया था कि उत्तरी सागर में जर्मनी वायुयानों ने ब्रिटिश के वायुयान वाहक जहाज 'आर्करायल' को डुबो दिया और एक जंगी जहाज 'टारपीडो' को निशाना बनाया, परन्तु सच यह था कि जिन 20 जर्मन वायुयानों ने आर्करायल पर हमला किया उनमें से एक भी आर्करायल को नुकसान नहीं पहुंचा सका था। इसके विपरीत वायुयानों को समुद्र में गिरा दिया गया। ' आर्करायल के डूबने की खबरें भी उड़ाते रहे। अन्त में सिद्ध हो

गया कि आर्करायल डूबा नहीं और समुद्र में दुश्मन की टोह में गश्त लगा रहा है। तब जर्मन विज्ञप्ति में कहा गया कि हमने यह कब कहा था कि हमने आर्करायल डुबो दिया। हम तो यह जानना चाहते थे कि उसका क्या हुआ? हमें पता नही था कि उस पर हमारा निशाना ठीक बैठा या नहीं।

इसी प्रकार 22 अप्रैल 1910 ई. को नार्वे के युद्ध के सम्बन्ध में भी एक जर्मन समाचार पत्र में यह दावा किया गया था कि पिछले 18 दिनों में ब्रिटिश जल सेना के 4 जंगी जहाज, 2 जंगी गश्ती जहाज, एक वायुयानवाहक जहाज, 4 भारी गश्ती जहाज, 10 गश्ती जहाज, 12 विध्वंसक जहाज, 13 पनडुब्बियां और 15 सामान ढोने वाले जहाज डुबो दिए गये, परन्तु बात उल्टी ही निकली। पार्लियामेंट में 2 मई को बताया गया कि पिछले तीन सप्ताह मे जर्मनी के दो जहाजों को सख्त नुकसान पहुंचाया गया और तीन अथवा चार गश्ती जहाज, 11 विध्वंसक जहाज, 5 पनडुब्बियां तथा 30 अथवा 40 सामान ढोने के जहाज डुबोए गये। बाद में 8 मई को पार्लियामेंट में चर्चिल ने जर्मनों के झूठे दावों पर प्रकाश डाला और युद्ध की वास्तविकता से अवगत कराया। एक सच यह भी है कि उस समय जर्मन जंगी बेड़ा नाकाम हो चुका था और ब्रिटेन सातों समुद्रों का स्वामी था। ऐसी स्थिति में जर्मनो के लिए गलत दावे करना ही विकल्प रह गया था। व्यापारिक जहाजों को डुबोए जाने के सम्बन्ध में जर्मनों ने समय-समय पर जो दावे किए वे और भी हास्यास्पद रहे। दरअसल हिटलर का मुख्य अस्त्र था झूठ का प्रचार और उसने ऐसा ही किया।

जब 3 नवम्बर 1940 ई. को उत्तरी एटलान्टिक समुद्र में व्यापारिक जहाजों के एक झुण्ड पर जो एक विध्वंसक जहाज के संरक्षण मे जा रहा था, जर्मनों द्वारा आक्रमण किया गया और 8 नवम्बर को अफवाह फैलायी गई कि जर्मन जंगी बेड़े ने उत्तरी एटलांटिक समुद्र में ब्रिटिश व्यापारिक जहाजों के समूचे झुण्ड का नाश कर दिया। स्थिति यह थी कि बड़े से बड़े झूठ को सत्य की तरह प्रचारित कराने में हिटलर और जर्मन बड़े दक्ष थे। झूठी खबरो में जहाजो के डूबने, बारूद की सुरंगों एवं समुद्र

तट पर लगी तोपों के उड़ाए जाने और जान-माल के नुक्सान की बातें प्रमुख थीं।

10 नवम्बर तक जर्मनों ने शत्रु राष्ट्रों के जितने व्यापारिक जहाज डुबोये उनका कुल वजन 29,23,322 टन था, जबकि जर्मन विज्ञप्ति में यह दावा किया गया था कि इसके तिगुने वज़न के जहाज डुबोए गये।

असफल प्रयास

हिटलर ब्रिटेन की सामुद्रिक शक्ति को नष्ट करने में सफल नहीं हो सका और उसने ब्रिटेन पर हवाई हमले प्रारम्भ किए परन्तु इसमें भी उसे मुंह की खानी पड़ी। जर्मन वायुयानों ने ब्रिटिश वायु सेना के हवाई अड्डों पर भी अनेक हमले किये और असफलता की स्थिति में उन्हें यह खर्चीला प्रयोग बन्द कर देना पड़ा। ब्रिटेन ने जर्मन वायुयानों की हवा बिगाड़ दी, लेकिन हिटलर ने फिर भी बुद्धिमत्ता से काम लिया और उसने फिर झूठे प्रचार के मन्त्र को फूंका। जर्मनो ने अपने और ब्रिटिश वायुयानो के नष्ट होने की सख्या पलट कर बतानी शुरू कर दी।

7 सितम्बर को ब्रिटेन पर होने वाले हवाई हमले में एक सौ तीन जर्मन और 22 ब्रिटिश विमान नष्ट हुए किन्तु जर्मनों ने दावा किया कि हमारे 26 तथा ब्रिटेन के 94 वायुयान नष्ट हुए। इसी प्रकार 15 सितम्बर को हवाई युद्ध मे जर्मनी के 185 एव अंग्रेजों के 25 वायुयान नष्ट हुए और जर्मनों द्वारा दावा किया गया कि हमारे 46 तथा ब्रिटेन के 79 वायुयान नष्ट हुए। शत्रु के नुकसान को दुगुना-तिगुना करके बताना भी शत्रु को परास्त करने के निमित्त हिटलर की फौजी चाल थी।

हिटलर जितना भविष्यदर्शी था, उतना और उससे भी अधिक जनता को गुमराह करने वाला और फर्जीपन को जीने वाला प्रचार की विजय का हिमायती था। उसने यूरोप में नई व्यवस्था कायम करने के झूठ को बार-बार दोहराया, जबकि उसकी व्यवस्था मध्ययुग की गुलामी की व्यवस्था ही थी। उसने अपनी पुस्तक 'मेरा युद्ध' में जर्मन जाति के अतिरिक्त यूरोप की अन्य जातियों के प्रति घृणा व्यक्त की है और उसके अनुसार

जर्मन जाति ही अपनी श्रेष्ठता के कारण शासन करने की अधिकारिणी थी। वह यूरोप पर ही नहीं, विश्व पर जर्मनी का प्रभुत्व चाहता था और उसने अपनी दूसरी पुस्तक 'मेरा संघर्ष' में इस स्वप्न और शासन की व्यवस्था पर विचार प्रकट किए हैं जो खयाली पुलाव ही थे।

झूठ के प्रचार-प्रसार के लिए हिटलर ने एक विभाग स्थापित किया था। डा. गोबेल्स उस जर्मन प्रचार विभाग के प्रधान थे। वे स्वयं अव्वल दर्जे के गप्पी एवं हुसोड़ थे और झूठ पर सच्चाई का रंग चढ़ाना वे बखूबी जानते थे। उन्होंने झूठ के व्यापक विस्तार के लिये विभिन्न देशों में अपनी समितियां कायम की थीं।

हिटलर की एक मानसिक मृत औलाद शेखावाटी के एक शहर की पीली कोठी के पीले चेहरे और पीले पर्चे के रूप में आज भी भटक रही है। वह भी अपनी जाति के सिवा दूसरी जातियों को अच्छा नहीं मानती। पिछले दिनों एक सठियायी बुद्धि का शायर उस 'मरी हुई आत्मा' की चपेट में आ गया था जो इन दिनों हिटलर, डा. गोबेल्स या पीले चेहरे के पर्याय के रूप में लम्दकों में चीखता सुनाई देता है। पीले चेहरे का वित्तीय सरक्षक एक शिक्षा शास्त्री भी पागलखाना-सा अपने समाजसेवी होने का स्वांग रच रहा है और शहर में ऐसे समाज कंटकों की संख्या बढ़ती जा रही है।

शहर के शरीफ लोगों का कहना है कि पीला भूत कभी हिटलर की जर्मन सेना में था और हिटलर के गुमनाम होने के साथ वह भी वर्षों गुमनामी के अंधेरों में भटकता रहा और एक दिन पागलखाने के प्रभारी किसी चिकित्सक के साथ शेखावाटी आ गया। वह अपने वंश परिवार को भी भूल बैठा था इसलिए उसे निःसहाय गरीब और निठल्ला घोषित कर दिया गया। बाद में उसमें एक कुत्ते की आत्मा प्रवेश कर गई और वह पालतू कुत्तों के साथ पालतू-फालतू लोगों के बीच 'स्वान सिंह' कहलाने लगा है।

कुत्तों की जमात

कुत्ते भौंकते हैं, आपकी नींद उचट जाती है और फिर आंख नहीं लगती। दूसरे दिन भी ऐसा ही कुछ होता है, आप कुत्तों को दुत्कारते हुए भगाने की कोशिश करते है। यह सोचकर कि उनकी नियति मे भौंकने-काटने के सिवा कुछ नही है, सो जाते हैं। बाद मे कुत्तो के भौंकने की स्थिति मे भी सुख की नीद निकालने के आप अभ्यस्त हो जाते है तो कुत्ते जगह छोड देते है। वे सोच लेते है भौंकने और काटने का अब कोई असर नहीं रहा। वे दूसरे किसी आदमी की तरफ भौंकना शुरू कर देते है। उनकी फितरत मे भौंकना ही है इसलिए भुर-भुर, भौं-भौं करेंगे ही।

हम सब्जी मंडी से गुजर रहे थे कि हमारे वाहन से एक कुत्ते की दुम दब गयी। वह गुर्राया और उसने फटी हुई आंखों से हमारी ओर देखा जैसे 'कह रहा हो देखकर चलिए, रास्ते मे कुत्ता भी है।' सब्जी खरीदते समय एक साहब कहने लगे, 'यह कुत्ता कई सालो से गाडियो की चपेट मे आता रहा है। पांच वर्ष पहले किसी दुर्घटना मे इसकी एक टांग टूटते-टूटते बच गयी थी, किन्तु इसने जगह नही छोडी और बाद मे टांग टूट जाने के बावजूद यहीं पड़ा है। इसे तो नगरपालिका की गाड़ी से पकड़ना पडेगा।'

दूसरे दिन रेल्वे के पास एक काला कुत्ता भागता हुआ आया और उसने एक यात्री की पिंडली मे काट लिया जैसे कोई सरे बाजार किसी का चैन उतारले या जेब काटले।

एक मित्र कहने लगे—आजादी का सबसे बड़ा लाभ तो इन कुत्तों को मिला है। वे चाहे उस शरीफ आदमी के पीछे दौड़ें और काटलें। कोई बोलने वाला भी नहीं, जैसे सबके जमीर मर गये हों। कुत्तों के खिलाफ तो फौजदारी का मामला भी कहीं दर्ज नहीं हो सकता। पुलिस कुत्तों को नहीं पकड़ती और मोहल्लेदार-गलीदार उनके मसले में चुप रहना

बेहतर समझते हैं। कुत्ते आजाद हैं और उनका भाषा विज्ञान कोई नहीं जानता।

कुत्तों का कोई क्या बिगाड़े ? ऐसी नाजायज संतानों को तो धमकाया-डराया भी नहीं जा सकता और उन्हें आदमी जाति का,कोई भय नहीं। कुत्ते निडर हैं, जन्म से भूखे हैं, टुकड़ा डालोगे तब भी काटेंगे, बेहतर है कुत्तों से बचाव का पुख्ता इन्तजाम कर लिया जाये। कुत्तों के साथ आदमी तो कुत्ता नहीं बन सकता।

सब रंगों के कुत्ते

कुत्तों की जमात ही कुछ ऐसी है कि कोई बचे तो कहां तक बचे ? जमात में काले, भूरे, लाल, चित-कबरे, सफेद और पीले मोटे मरियल सभी तरह के कुत्ते हैं जो गलियों और मोहल्लों, चौक-चौराहों और सर्वत्र आबाद हैं। हालांकि एक कुत्ता दूसरे की सरहद में नहीं घुसता और कोई घुसपैठ करता है तो दूसरे कुत्ते भिर-भिर, भौं-भौं और कूं-कूं करके उसे भगा देते हैं किन्तु आदमी का सामना हो तो सारे कुत्ते एक है, एक रूप और एकता के प्रतीक हैं।

कुत्तों के अपने धर्म, वर्ण, रूप है और उनकी अपनी जातियां प्रजातियां होती हैं। उनमें भी मूल निवासी और आयतित होते हैं और ये भी मुहल्लेदार, गलीदार तथा शहरदार होते हैं। कुत्तों में दोस्ती और दुश्मनी दोनों के लक्षण होते हैं। कुत्ते पालतू भी होते हैं, भूखे हड़काये भी।

एक हड़काया कुत्ता बीस वर्षों से नवागंतुकों को काटता रहा और एक रात वाहन की चपेट में आकर मर गया। तबसे सड़कों पर बड़ी शांति है, लोग निडरता पूर्वक घर लौटते हैं। एक दूसरा कुत्ता चालीस वर्षों से देशाटन करता रहा और गांव लौटा तो उसकी शक्ल बदरंग हो चुकी थी। वह रोगीला भी था। उस पर मक्खियां भिन-भिनाया करती थी और वह कान खुजाया करता था। उसने गांव में कुत्तों की एक बड़ी जमात तैयार की और आदमियों की ओर लपकता-लपकता एक ट्रक से प्यार कर बैठा। सड़क पर उसकी टांगें, धड़ और मुंह ऐसे बिखरे पड़े थे जैसे दिल के टुकड़े हजार हुए कोई यहां गिरा, कोई वहां गिरा।

बौराया कुत्ता

बाजार का एक साल कुत्ता काले कुत्तों में क्या बैठा, साले का दिमाग ही चौपट हो गया और सड़क पार करते हुए टेम्पो से कुचल गया। फिर बाजार में वैसा कुत्ता नहीं देखा गया।

सड़क दुर्घटनाओं में आदमी के बाद दूसरी बड़ी संख्या कुत्तों की है। कुत्तों के घर नहीं होते और वे कहीं भी थोड़ी-सी बेवफाई के साथ जबर्दस्ती जगह बना लेते हैं। उन्हें गन्दे पानी में रहना ज्यादा पसन्द है। कुत्ते दया की भीख फैलाये, किसी उम्मीद में मुह लटकाये और किसी वस्तु की गंध से बौराये हुए आदमियों के पीछे भागते हैं।

कुत्ते पिछलग्गू होते हैं, पीछा करते हैं तब तक, जब तक उन्हें आदमी के दूर निकल जाने का विश्वास नहीं हो जाता। कुत्ते पालतू स्थिति में ही भले हैं अन्यथा वे शहरों में रहकर भी जंगली, निरीह होकर मूर्ख और चालाक हैं। पेट भर जाने के बाद भी वे भूखे और नंगे हैं।

कुत्ते व्यूह रचना के बाद भी आक्रमण करते हैं और वह भी सामूहिक रूप से। अकेला कुत्ता तो भीरू है, कमजोर है। कुत्तों की योजना आदमी की जगह हथियाने की है और इस प्रयास में वे निरन्तर सक्रिय हैं। वे आदमी जात को बर्दाश्त नहीं कर सकते। उनका सबसे बड़ा सुख यह है कि आदमी आतंकित है और आदमी का दुःख यह है कि वह आदमियों की जमात में भी सुरक्षित नहीं। कुत्ते किसी के गुलाम नहीं हैं और आदमी गुलामों जैसी जिन्दगी बसर करने का आदी है। वह तो किस्मत है कि आदमी सत्तारूढ़ है और निष्काम भी। कुत्ते सत्तारूढ़ होते तो जमीन पर आदमी जाति ही नहीं मिलती। □

कहवाघरों में कुण्ठा पिएं

आजकल बड़े-बड़े शहरों में काफी घर साहित्यिक चर्चाओं के केन्द्र बनते जा रहे हैं। जो साहित्यकार कॉफी घरों तक नहीं पहुंचते, उन्हें आज का बुद्धिजीवी वर्ग 'साहित्यिक' नहीं स्वीकारता और काफी घरों में कॉफी के साथ जीवन की विषमताओं, भीतरी कुण्ठाओं, सम्मान और आलोचनाओं से भरे हुए प्यालों को गले में उतारने वाले 'नामधारी साहित्यकार' ही श्रेष्ठ, स्तरीय माने जाते हैं; किन्तु वहां बैठकर एक साथ कई-कई पैकिट सिगरेट फूंकने वालों की धुंओं में न जाने कितनों के दम घुट जाते होंगे। इस बात को न कभी सोचा जाता है और न ही वहां प्रेरणा, संगठन और सहयोग जैसी बातों को कोई स्थान दिया जाता है। दफ्तरों से छूटते ही लोग अपने-अपने घरों की ओर नहीं, कॉफी घरों की ओर दौड़ते हैं, और कॉफी घरों से घर लौटते रात का कौन-सा पहर हो जाता है, यह बताना उचित नहीं।

उस दिन एक मित्र ने मुझे कॉफी घर मे आमन्त्रित किया। मित्र साहित्यकार भी थे और प्रकाशक भी। मैं उन का आग्रह नहीं टाल सका। कॉफी घर मे घुसा तो ऐसा लगा, जैसे घर में आग लग गई है और उस का धुंआ एक कोने से दूसरे कोने तक फैल रहा है। मगर यह धुंआ किसी आग का नहीं, लोगों के दिलों में सुलगती हुई आग का था, जो कॉफी के धुंओं के साथ-साथ उन के मुखों से निकल कर बाहर फैल रहा था।

जैसे ही कुर्सी पर बैठा कि दृष्टि सामने बैठे साहित्यिकों पर पड़ी। वे 'हवाई साहित्यकार' थे। शायद आकाशवाणी पर प्रसारित होने वाले कार्यक्रमों की चर्चा करते हुए ठहाका मार कर हंस रहे थे। दाहिनी ओर वाली मेज पर कोई सम्पादक महोदय अपने 'चोटीकट चेलों' के साथ किसी पुस्तक पर टीका-टिप्पणी कर रहे थे। बाईं ओर की मेज पर कुछ

कहानीकार आ जमे थे, जो उठने का नाम ही नहीं ले रहे थे। मैंने देखा, न वे कॉफी पी रहे थे और न ही किसी आर्डर के साथ जुड़े थे। किन्तु उनकी बातों के ढंग से उन की शिक्षा और सभ्यता का अनुमान लगाया जा सकता था।

तभी किसी ने मेरा कन्धा छुआ, देखा तुइया जी खड़े मुस्करा रहे थे।

मैंने कहा, 'आइए, तुइयाजी बैठिए।' और वे आ बैठे।

'यह कौन-सी पुस्तक है?' मैंने उनके हाथ से पुस्तक लेते हुए पूछा।

'कविताएं हैं,' उन्होंने बड़े ही बनावटी ढंग से कहा, 'नई कविताएं।'

'आपने पढ़ा है इन्हें? कैसी है?'

'बकवास,'—इन्होंने मुंह सिकोड़ा और बिखरे बालों को संवारते हुए कहा, 'कूड़ा है, कूड़ा।'

मैंने कहा, 'परम्परागत कविता के बारे में आपके क्या विचार हैं?'

'पुरानी कविता के बारे में?'—वे मुंह को ऊंचा-नीचा करके बोले, 'मुझे पुराने से लगाव नही।'

'फिर भी........'

'एकदम बकवास........'

'और गीत?'

'गीत,' वे झुंझलाए, 'गीतो का तो युग ही समाप्त हो गया। अब तो 'नवगीत' भी मर रहे हैं।'

मैंने साहस करके पूछा, 'फिर काव्य की कौनसी विधा में आपका विश्वास है? क्या नई कविता मे?'

'जी नही—ताजी कविता।'

'ताजी, जैसे गोभी का फूल।'

'जी नही।'

'तो ताजी मिठाई?'

'अरे साहब, ताजी कविता,'—वे और खुले, 'जैसे आज की कविता, अभी बिल्कुल अभी की कविता।'

'भाई ये क्या होती है ?' 'मैंने बात के एड़ लगाई, 'जरा मुझे भी तो समझाइए ?'

'ये मुझे मालूम नहीं, मैं तो कविता लिखता हूं' और वे कॉफी पिये बिना ही उठ कर चल दिए।

मैं और मेरे मित्र जब उठने लगे तो सामने बैठे एक बुजुर्ग साहित्यकार ने पुकारा 'अरे भाई, कहां चले ? आओ, आओ, देखो आपको, 'आदुइ' के शिष्य बटुकनाथ जी से परिचय कराते हैं।'

मैंने देखा 'गुलकंद' के सम्पादक विजेन्द्र जी 'निरुपाय' बैठे थे। नजदीक पहुंचा तो बोले, 'ये रात ही दिल्ली से आए हैं। पत्र-पत्रिकाओं में आपने पढ़ा ही होगा कि आज कथा साहित्य में ले देकर सिर्फ तीन नाम हैं, जिन्हें त्रिगुट कहा जाता है ! उन्हीं के शिष्य हैं बटुकनाथजी !'

'तो आप भी 'नई कहानियां' लिखते हैं,' मैंने अन्वेषक की दृष्टि से उन्हें देखते हुए पूछा।

ये अभी कुछ उत्तर दें कि बीच में निरुपाय जी टपक पड़े !

'नहीं भाई, अब तो इन के गुरुओं ने लिख दिया। उसे क्या लिखें ! यह तो आने वाले कल की कहानी लिखते हैं ?........इसी खुशी में दिल्ली के एक चौराहे पर पाठकों ने अभी कल ही इन का अभिनन्दन किया है।'

मैंने जिज्ञासा प्रकट की, 'यहां कैसे आना हुआ ? किसी समारोह का उद्घाटन है या किसी व्यक्तिगत कार्य से ?'

'नहीं'—बटुकनाथ जी बोले, 'ये तो भाई निरुपाय जी की मेहरबानी है जो इन्होंने 'गुलकंद' द्वारा आयोजित कथा-गोष्ठी के लिए बुलवा लिया, वरना दिल्ली में गोष्ठियों की अध्यक्षता करने का अवसर कहां मिल पाता है। वहां तो अभी तक 'पूंछकटे लोग' ही अध्यक्षता करते हैं।'

'पूंछकटे लोग'—क्या यह भी कोई 'कटी हुई कहानी' की तरह की चीज है ?'

'जी हां, जी हां, बटुकनाथ जी ने सिगरेट से सिगरेट जलाते हुए कहा !

मैंने पुनः अभिवादन करते हुए कहा, 'अब मैं चलूं ?'

बटुकनाथ जी ने बड़े ही विनम्र शब्दों में कहा, 'तो सुनो, भाई, मेरी कहीं कोई कहानी पढ़ो, तो सम्पादक को भी पत्र लिख दिया करो।'

मैंने कहा, 'अवश्य लिखूंगा !'

उन्होंने उठते हुए कहा, और हां, अपने मित्रों से भी ऐसा लिखवाओ।

मैं कॉफी घर से आने लगा तो बाहर कुछ साहित्यकार खड़े-खड़े किसी चर्चा में हाथ बंटा रहे थे।

एक ने कहा, 'हम उसे मन्च पर कविता नहीं पढ़ने देंगे। वह कवि नहीं कव्वाल है।'

दूसरा बोला, 'मगर वह मंचीय कवि है और उसके बिना मन्च कभी सफल नहीं हो सकता।'

तीसरे साहब बोखलाए, 'हमारा विश्वास कवि सम्मेलन में नहीं, हम तो गोष्ठी करेंगे और वह भी चुने हुए लोगों की।'

चौथे महोदय ने निर्णय दिया, 'मगर तुम जिन्हें कवि समझते हो। वे कवि कहां हैं। कवि तो वे हैं जो तुम्हें मुंह नहीं लगाते।'

मैंने देखा—कॉफी घर का धुंआ बाहर आ गया था और वह बिना सिगरेट के भी साहित्यकारों के मुखों से बाहर निकल रहा था।

मुझे लगा जैसे मेरा दम उस माहौल में घुट रहा है। मैं चुपचाप उठा और भारी कदमों से घर की ओर लौट पड़ा।



यशः प्रार्थी महाकवि शुतुरमुर्ग

जयपुर : महाकवि शुतुरमुर्ग साहित्यकार कभी नहीं रहे और इस रूप में सब कहीं विख्यात रहने के लिए यशः प्रार्थी रहना उन्होंने पसन्द किया। वे महाकवि कहाने के आदी थे जैसे कोई 'महापुरुष' या महाब्राह्मण रूप में बने रहने का प्रबल इच्छुक होता हो।

उन्होंने अपने को महाकवि की शक्ल में जोया और जब उनका मंस-रंग बहिरंग की सड़क पर चलने लगा तो लोगों ने उनको कई रूपों में देखा मसलन भिक्षुक, मसक या भगेड़ी। वे दुत्कारे भी गये और बाजारूपन में चरे-चबे भी किन्तु किसी ने उनके किसी रूप को स्वीकारा नहीं, फलबत्ता वे अपने शुतुरमुर्गाने लहजे में अपना होना दर्शाते रहे। वे इस बात के लिए आमादा रहे कि किसी भी तरह पीले पत्रे वाले साहित्य के इतिहास में उनका नाम या उन पर लिखी कुछ पंक्तियां आती रहें, मिथ्या ही सही, उनके सम्बन्ध मे खबरें छपती रहें और वे बिना कुछ किए महाकवे रूप में पुजते रहें।

वे कामकाजी जिंदगी के खिलाफ अखबारबाजी भी करते रहे, चन्दे पर पलते रहे किन्तु जब मन की भूख नहीं मिटी तो सठियायी बुद्धि लिए शहरों की परिक्रमा लगाते रहे। साहित्य जगत में उनकी वनमानुषी हरकतों के कारण 'महाकवि' शब्द घृणास्पद होता रहा और लोगों ने चिढ़कर उन्हें महाकवे कहना उपयुक्त समझा।

उनके खिलाफ आयोजित एक बैठक मे हमने विपर्यान्तर करते हुए कहा, 'बेचारे को जो चुगने दो। कुछ साहित्यजीवी होते हैं, कुछेक पेटिया और यह असंगति अन्यत्र भी अनुभव की जा सकती है। व्यक्ति होता कुछ और है, दिखाता कुछ और।

चन्दा चाटू

बैठकी लोगों का कहना था कि वह कवि हरगिज नहीं है, चन्दा

चाटू है, भिक्षावृत्ति का कीड़ा है या गन्दी नाली का मच्छर। उन्हें सम्मान देना, साहित्य को और साहित्याकार शब्द को गलत अर्थ देना होगा।

कुछेक दिनों बाद महाकवे शुतुरमुर्ग अवतरित हुए और बोले, 'दिल्ली से लौट रहा हूं। सोचा, जयपुर में आपसे मिलता चलूं। पास में लौटने का किराया नहीं है। कुछ व्यवस्था करादें तो भला होगा। मैं तो आप जैसे साहित्यकारों का दरोगार हूं। कृपया मदद करें।'

हमने असमर्थता जाहिर की तो फूट पड़े: 'आप नहीं करेंगे तो कौन मदद करेगा? देखिए या तो कुछ रुपयों की व्यवस्था करादें अन्यथा मैं आपके खिलाफ पत्रकारों को भड़काऊंगा, आपके खिलाफ अखबारबाजी करवाऊंगा।'

हमने कहा, 'हमारे पास तो साहित्य है, पैसा नहीं। आप चाहे जो लिखें लिखाएं, हमें इसकी कोई चिन्ता भी नहीं।'

वर्षों बाद उदयपुर में मिले तो कहने लगे मध्य प्रदेश सरकार ने उन्हें कवि मान लिया है और केरल सरकार नाटककार मान चुकी है लेकिन उन्हें कवि से कोई सरोकार नहीं। वे तो इस बहाने बड़े लोगों के बीच बैठकर ब्लैकमेलिंग करने के इच्छुक रहे हैं और उन्होंने बताया कि गुजर-बसर के लिए इससे अच्छा कोई जरिया नहीं है।

बोले, 'सरकारी मुलाजमत में क्या मिलता है—दो ढाई हजार और इतना तो मैं किसी एक मुलाकात में खींच लेता हूं।'

एक समारोह में महाकवि शुतुरमुर्ग ने किसी नेता से कहा! 'कुछ तो हमारे लिए भी करवाइये। क्या हम भूखे ही मर जायेंगे? हम निरीह प्राणी तो आपकी ओर ही देखते है, आपका दिया हुआ खाते हैं। आप ही हमारे माई-बाप हैं।'

हम शर्म से गड़ गये। महाकवे का घृणित रूप देखकर बुरा भी लगा, क्रोध भी आया किन्तु क्या करते। गलती से भिखारियों की जमात में जा बैठे और अपनी आबरू बचाकर लौट आये।

महाकवे शुतुरमुर्ग का जन्म दक्षिणाचल के किसी इलाके के दुर्भागिया गांव में हुआ था और वे बचपन से ही भूखे रहे। उनकी माता हैदराबाद के स्टेशन पर कटोरा लिये भिक्षा मांगती थी और उसी दौरान उसको

महाकवे के पिता ग्रासाम ले ग्राये जहां दान-दक्षिणा पर उनकी गृहस्थी चलती रही।

ग्रभी कुछ दिन हुए कलकत्ता से एक मित्र का पत्र ग्राया : 'महाकवे शुतुरमुर्ग नहीं रहे। ग्रापसे कहीं मिले हों तो उन पर कुछ लिखिए।' सोचा, जिसने कभी कुछ नहीं लिखा हो उसके सम्बन्ध मे क्या लिखा जाये? ग्रनचाहे के सम्बन्ध में मनचाही बातें कैसे लिखी जायें ?

जमात के मसीहा

शोक संतप्त परिवार के प्रति हार्दिक संवेदना प्रकटाते हुए हमने लिखा : 'वे साहित्यकार के रूप मे नहीं, 'महाकवे शुतुरमुर्ग' नाम से प्रसिद्ध हुए ग्रौर उनके नहीं रहने से चन्दा जुटाने वालों की परम्परा प्रभावित होगी। वह चंदाजीवी लोगों की जमात के मसीहा थे।'

सम्मति के छपते-छपते महाकवे शुतुरमुर्ग ग्रजमेर बस स्टेण्ड पर दिखायी दिए। नजर मिली तो सकुचा गये ग्रौर धीरे से बोले, 'मरने की खबर तो मैंने ही निकलवायी थी चन्दे के लिए। देखते नहीं, बम्बई से लौटा हू, पचास हजार खीचकर। वहां मुझे ग्रपने को शुतुरमुर्ग का ज्येष्ठ पुत्र बताना पडा ग्रौर लोग मेरी ग्रौरताना शक्ल देखकर पसीज गये।'

फटीचर कलमकार की वसीयत

प्रिय, उपनाम दार्शनाभिलाषी, छद्मनाम सूत्रकार, देश भारत, राज्य राजस्थान, ग्राम बनाम जाति सत्यासो वर्तमान में अनदेखी अनजानी गली में निवासित, अपना यह मृत्यु लेख एवं वसीयतनामा स्वेच्छा और निर्भीकता से बलात्कार सूचित करता हूं।

मैं शर्मा लाल एवं बेतालचन्द खुरताल पत्थर को इस मृत्यु लेख के उत्तर साधक नियुक्त करता हूं।

मैं अन्य सम्पत्ति के अतिरिक्त निम्नलिखित सम्पत्तियों का अधिकारी हूं और मैं प्रत्येक सामने लिखे अनुसार इस सम्पत्ति को मृत्यु के बाद देना चाहता हूं।

एक

(क) पाण्डुलिपि नं. 114 जो अभी तक सजिल्द नहीं है और जिसके प्रकाशन की कोई उम्मीद नहीं रह गई है।

(ख) वे तीनों शब्दकोश जिनकी सहायता से मैं कभी-कभी कविताएं लिख लिया करता था और वे पुरानी पुस्तकें प्रकाशित कथाओं को पढ़कर मैंने वैसी ही रचनाएं लिखी हैं। मित्रों से पढ़ने के लिए प्राप्त करके न लौटाई गयी सभी पत्रिकाएं जो कि सहकारिता लेखन समिति के कार्यालय की सीज पर दी हुई हैं उनके मेरे हिस्से के अधिकार स्वत्व अधिकार व विशेषाधिकार।

(ग) यहां वहां से संकलित किए 'नवरत्न साहित्य' के आधार पर लिखित रचनाओं के पारिश्रमिक के विवादित पैसे में मेरे दावे व अधिकार।

ऊपर लिखी ये चीजें और ऐसी ही बकाया सामग्री के सारे अधिकार बेतालचन्द गुरताल पत्थरकार को दिए जायेंगे ताकि वे कुछ न बन पाए तो रद्दीकार तो रह सकें।

दो

पुस्तक नं. 14, कविताओं का अनबिका प्रकाशन। इस पुस्तक की सभी कवितायें इससे पूर्व किसी पत्र-पत्रिका में प्रकाशित नहीं हुई है और जो कविता प्रकाशनार्थ भेजी वह सम्पादक के अभिवादन व खेद सहित की स्लिप लेकर लौटी है, पुस्तक में हास्य कविताएं संग्रहीत हैं किन्तु प्रूफ की अशुद्धियों और लिपि-ज्ञान के अभाव के कारण वे स्वयं व्यंग्य कवितायें हो गयी। लेकिन छन्द मात्र और भाव की दृष्टि से इन्हें विशुद्ध कवितायें माना गया है।

यह पुस्तक किसी भी उस नये कवि को दी जाए जो बेकारी की स्थिति में कवि बना हो और जिसे तालिया पिटवाने की कोई रुचि रही हो। पुस्तक को पढ़कर वह नई कविताएं लिख सकेगा और चाहेगा तो कवि सम्मेलनों के मन्च भी लूट सकेगा उसको पुस्तक का सम्पूर्ण मालिकाना अधिकार होगा और वह पुस्तक के नए संस्करण पर लेखक के स्थान पर अपना नाम भी छपवा सकेगा लेकिन पुस्तक के सभी दोषों के लिए वह पूर्णरूपेण जिम्मेदार होगा। यदि उसकी मृत्यु मुझसे पहले हो गयी तो उक्त पुस्तक इस मृत्यु लेख के किसी भी आईटम में नहीं जोड़ी जायेगी।

तीन

(क) लेखक एवं नई कथाओं की फाइलें, आधे-अधूरे और कुछेक पूरे लिखें लेखों की टंकित प्रतियां, नाटक, उपन्यास और रिपोर्ताज के बस्ते तथा धर्मयुग-पत्रिका के पचास पुराने अंकों का सैट।

(ख) कवि सम्मेलनों के दौरान आयोजकों से प्राप्त पत्र तार एवं पारिश्रमिक सम्बन्धी कागजात।

(ग) बैंक में नियत समय के लिए और करेण्ट खातों में जमा पूंजी।

(घ) आकाशवाणी के सभी केन्द्रों पर रिकार्ड की गयी रचनाओं पर हक की राशि यदि अनुबन्ध फिर हुआ तो।

(ङ) मेरी पुस्तक या मेरे सम्बन्ध में लिखे गये परिहास अथवा संस्मरण में मेरा हक और अधिकार।

ऊपर लिखी पांचों मेरी पांच पाठिकाओं या प्रेमिकाओं को जो मेरी होने का दावा करें और मेरे प्रेम पत्र प्रस्तुत करें अथवा जिनके पास मेरे द्वारा सहवास किये जाने का प्रमाण हो उनमें बराबर-बराबर बांटी जायेंगी। संभव यह भी है कि मैं इन चीजों के लिए अपने जीवनकाल में ही कुछ महिलाओं को नामांकित करूं और यदि ऐसा नहीं किया गया तो जिसे मेरे उत्तर साधक नामांकित करें।

चार

(क) मेरे कमरे में बिछी दरियां, कुर्सियां, मेजें और कलमदान।

(ख) महिलाओं के यौन सम्बन्धी खुले चित्र एवं रंगीन पारदर्शियां।

(ग) विभिन्न सरकारी एवं गैर सरकारी विभागों और संस्थाओं से निःशुल्क प्राप्त प्रकाशन।

ये सभी चीजों के किसी पत्रकार को जिसका नाम मेरे उत्तर साधक सुझाएं, दी जायेंगी लेकिन वह पत्रकार जाति से ब्राह्मण, बनिया या कायस्थ नहीं होगा।

विभिन्न पत्रिकाओं से प्राप्त किये जाने वाले पारिश्रमिक की बकाया राशि। यदि कहीं से कोई पारिश्रमिक की राशि आ जाये तो उसे कॉफी हाउस या टी स्टाल जैसी जगह भिजवा दिया जावे ताकि मेरे नाम लिखा उधार चुकता हो सके।

इसके प्रमाण में मैं नारंगी लाल उर्फ कुमार प्रिय आज की तारीख को दस्तखत करता हूं।



चेहरे

कमाल है साहब, चेहरा देखकर तिलक निकाल रहे हैं तिकुने चेहरे पर बिंदिया भी नहीं। कल तो आप अपना चेहरा खोज रहे थे, चेहरों की भीड़ में और आज चेहरा याद नहीं आ रहा तो दूसरे चेहरे में झांकने लगे। आप भूल गए कोई भी चेहरा एक नहीं होता, चेहरों मे कई-कई चेहरे और उनमे भी आलतू-फालतू, अमुक-तमुक अतुल बतूल चेहरे या बिच्छु सर्प अथवा बबूल चेहरे घुसपैठ किए गए हैं। देखते नहीं, यहा-वहां सब कहीं कितने चेहरे बिखरे पड़े हैं—फटी हुई आंखों के बेतरतीब चेहरे, खंडित शखों से उदास चेहरे, मखमली-मलमली चेहरे, भरे हुए, किन्तु खोखले चेहरे, ईर्ष्यालु कुंठित-लुंठित बेमजा चेहरे और आधे अधूरे कटे किनारों से चेहरे हैं दुखों-अभावों तथा बनावटी खुशियों के आसपास। कुछेक चेहरों जैसे भी नहीं हैं फिर भी चेहरे तो चेहरे हैं मुंखौटे भी हैं घड़ियाल और चौकोर भी, गोलाकार ग्लोब जैसे भी। इनमें कहा तलाश पाओगे अपना चेहरा, बीते हुए कल जैसा या वर्तमानी अथवा आने वाले कल का अथवा आगामी अतीत का चेहरा।

चेहरे खुले हुए बालों के भी हैं, बन्द मुड़े हुए कागजों जैसे भी, झुर्रियोंदार बुढ़ियाए-सठियाए मिमियाए हुए भी। चेहरों के भीतर-बाहर भी चेहरे हैं, आगे पीछे भी और ऊपर-नीचे भी। चेहरों को गिना नहीं जा सकता। किसी संख्या से प्रारम्भ होंगे तो चेहरे बहुगुणित होकर लाखों-करोड़ों में बनते-संवरते और बिगड़ते-उजड़ते रहेंगे।

चेहरे का अपना व्याकरण है, भाषा-विभाग और कार्यक्षेत्र है। उन्हें आप किसी एक शीशे में उतारना चाहें तो यह दूसरी भूल होगी। पहली भूल तो अपना चेहरा नहीं पहचान पाना होगा। आखिर चेहरे हैं, कोई साग-सब्जी तो नहीं, भाव जचा और तालवा लिया उसे, रख लिया किसी

थैले में या भर लिया कागज की थैली में। लोग तो चेहरों से बाहर नहीं निकल पाए और चेहरे हैं कि चेहरों की दीवारों मे ही दुबके पड़े हैं। जमाने के तेज तर्रार लोगों ने आइनों के साथ चेहरे भी बेच दिये और जो अंधों के शहर [redacted] आईनेल बेचे गए वे इतने कुशल भी रहे कि उन्होने उजलाए चेहरे खरीदने मे कोई कोर-कपर नही छोड़ी। वे चेहरों के बहाने दिल और दिमाग ही उठा ले गए कोढ़ियों के साथ।

मुगलों के दौर की यह खूबी रही कि उसके नखशिख वाले चेहरे तलाशे गए और परिवर्तित धर्म-जाति-वर्ग के साथ चेहरे भी बदल लिए गए। राजपूती शासन में चेहरों की किमत राजप्रासादो तक रही और गाधीवादी युग में तो चेहरों से आवरण उठ गए और सब चेहरे एक जैसे गिने गए। मानव चेहरों के साथ पशु चेहरे भी पहचाने गए तो परस्पर चेहरों का बदलाव भी देखा गया।

चेहरों का क्या! नौटंकी से रामलीलाओं और राजतंत्र से लोकतन्त्र तक चेहरे ही रहे, असली चेहरों के नकली लोग चेहरा पढकर लोगों का मूल्यांकन करने लगे या अभिनन्दित चेहरों मे प्रतिभा नहीं देखी गई अथवा चेहरे ही मान्यापित होते रहे चेहरों के रूपों में।

कई हजार चेहरे, कई लाख चेहरे, कई करोड़ों की संख्या तो बने अंततः अपने चेहरे तक रह गए। विकास युग में चेहरो का भी विकास हुआ एक चेहरे मे कई चेहरे बने रहे, जैसे रावण के सिरपर दस चेहरों का कभी बोझ रहा।

चेहरो की करामात के कई किस्से प्रचलित हैं और सुनाने की अब आवश्यकता नही रही। इतना जरूर हम बताए देते हैं कि वे चेहरे जमाने के अलग लहजे और अन्दाज थे। यथा, नवाबो की बीबियों के चेहरे, चित्र कृतियों के चेहरे, युद्धकालीन चेहरे, दार्शनिक और धार्मिक चेहरे, देवी-देवताओ के अधिकृत-स्वीकृत चेहरे तथा सौन्दर्य की दुनियां में गन्ध बिखेरते-सिमेटते चेहरे। किन्तु चेहरों में अब वैसी कोई बात नहीं।

आज तो राजनीति की शतरंजी चालों से पिटे-उभरे नुमाइशी चेहरे, कानूनी बेसुरे एव बेबुनियादी चेहरे और शान बधारते हुए ढिंढोरचियों की

जमात के चेहरे तथा निहित स्वार्थी और भूख से कराहते चेहरे ही सवत्र हैं। आप खोजें और कोई सा अच्छा चेहरा खोज निकालें तो आपकी खूबी होगी अन्यथा सभी चेहरे एक रंग एक सूरत जैसे किन्तु अलोने-अनगढ़ हैं। चेहरे घड़े जैसे भी हैं, दरवाजे और चौक गलियों जैसे भी।

चेहरों की पहचान के दावेदार भी अब नहीं रहे और खिले चेहरों के लोग भी पलायन कर गए। यहां तो सिर्फ थोपे हुए चेहरे हैं। उन्हें काले-कलूटे भी कहा जा सकता है। अन्यथा लोग तो बिगड़े चेहरों को भी सुघर-सलोना ही कहते हैं।

उनकी बात अलग है वे चेहरे हैं और चेहरे में खोये रहना उनके चेहरे की कोई मजबूरी हो सकती है। इतना जरूर है कि चेहरेदार लोग अपना ही चेहरा नहीं पहचानते और दूसरे के चेहरे को देखकर कहते हैं कि यह मेरा ही चेहरा है।

यह महसूसा गया कि कभी लोग आपस में मिल बैठते थे और सुख सुना लिया करते थे किन्तु आज की व्यस्तता इस कदर बढ़ी कि कोई किसी से नहीं मिलता—सिर्फ चेहरे चेहरों तक गए और लौट आए।

बनावटी और बनावटी चेहरों के रूप रंग-रास सभी भिन्न रहे उनमें एकरूपता नहीं देखी गई, गो, वे चेहरे ही न हों, कोई चेहरा नुमाचीज हों।

छोटे-बड़े चेहरों का अनुमान खामियों और अच्छाइयों की कसौटी पर किया गया किन्तु बाद में पता लगा खामियोदार चेहरे बड़े महंगे और अच्छे चेहरे बड़े सस्ते तथा बिकाऊ थे।

कुछेक चेहरे हमारे आस पास भी हैं। आप इन्हें भी देखें शायद कोई आपका हमशकल हो।



दामादों की मर्दुमशुमारी

एक बार संयुक्त परिवार के दामादों की मर्दुमशुमारी हुई। दो दामाद अपनी ही किस्म के निकले। एक ये शहंशाही शानशौकत की नुमाइन्दगी करने वाले मगर दिलोदिमाग से खारिज मिस्टर खैराती लाल और दूसरे भौतिकवादी विचारधारा के प्रबल समर्थक मगर शक्ल सूरत से बदकार माशाअल्ला बिगड़े दिल नवाब जनाब बरसातीलाल तखल्लुस 'फिसड्डी'। गजब यह कि दोनों ही मैट्रिकुलेशन की सनद प्राप्त और ये दस नम्बरी।

जिक्र उस दिन का काबिले-गौर है, जब मिस्टर खैराती लाल शबे-चांदनी के दूसरी पहर में दर-मन्जिल-दर कूच करते हुए ससुराल आ धमके। दरवाजे का खटखटाना क्या हुआ, लगा कि मुगलकालीन इंसाफ के अदले-जहांगीर को किसी फरियादी ने बजाया हो। तभी 'घर होटल' के बुजुर्गवार ने दरवाजा खोलते हुए देखा—सामने, दामाद खैराती लाल कुछ अनमने से मुंह बिचकाये खड़े हैं। बुजुर्गवार का सरद्द्द में पड़ जाना स्वाभाविक था। फिर भी एक आसान साहस बटोर कर उन्होंने अधर हिलाये—

'ओह आप-और इस वक्त?' बुजुर्गवार ने कुछ जानकारी चाही 'कैसे आना हुआ आपका खैरातीलालजी, कुशल तो हैं?'

'अजी क्या खाक कुशल हैं, तबियत तो पहले से ही साफ है।'

'क्यों? क्या कोई नया वाकया हो गया?'

'अजी होना जाना क्या था, मिस्टर खैरातीलाल ने बिल्कुल बेबाकाना लहजे में कहा 'दौरे से लौटकर बस स्टैंड से घर जा रहा था। सोचा, शायद 'वे' यहीं होंगी, क्यों न साथ लिया ले चलूं और यहीं ख्याल मुझे यहां खींच लाया।'

'ख्याल तो आपका बहुत दुरुस्त है', बुजुर्गवार ने अपने तजुरबे की दुरब का पता लगाते हुए कहा—'यह तो आपकी जर्रे-नवाजी है जो आपने

हमारी तरफ निहायत मसरूफ होते हुए भी नजरेइनायत की। फिर भी साहब दामादों का दिमाग भी काबिले तारीफ है। वक्त का ख्याल तो उनके दिलों-दिमाग से कूच कर गया है। दामाद जो ठहरे, न दिन का ध्यान और न रात का। ससुराल के चक्कर काटना तो उनकी 'हॉबी' सी बन पड़ी है। उन्होंने ससुराल के बैंक में लोकलाज का सेविंग्स बैंक खोल रखा है जिसमें से वे जरूरत के मुआफिक शर्मसारी जमा कराते और निकालते रहते हैं।'

मिस्टर खैरातीलाल उबल पड़े। आखिर वे भी ठहरे 'अनुभवी'। उन्होंने शादी से पहले ही कई ससुरालों की खाक छान ली थी। सर्प की तरह फुफकार मारते हुए बोले—'श्रीमानजी, मैं आपकी लम्बी-चौड़ी, थोथी और बेबुनियाद तकरीर सुनने नहीं आया हूं। मुख्तसर यह है कि आपको अगर उन्हें भेजना है तो मैं यहीं खड़ा हूं और अगर नहीं भेजना है तो मैं चला।'

'सुनिये तो''''बात दरअसल यह है'''।'

'मैं बात-बात सुनने का आदि नहीं।'

फिर भी हमारी गुजारिश यह है आपसे कि 'बहरहाल बच्चों को हमें भेजना तो है ही, लेकिन बेहतर यह होगा कि आप भी अभी यहीं आराम फरमाएं'। कल सुबह चाय-नाश्ते के बाद साथ लिवा ले जाइये। लड़की तो सुसराल आती जाती ही अच्छी लगती है।'

मिस्टर खैरातीलाल का मुहरा बातचीत की तहजीबी शतरंज में फिर पिट गया। फिर भी बात बघारते हुए बोले—'अजी आप लोग भी बड़े अजीब हैं, आपकी वकालत खत्म ही नहीं होती। मेरा वक्त जाया मत कीजिए—जो उन्हें भेजना है तो भेजिए, वरना मुझे रुख्सत दीजिए।'

फिर क्या था—सेर को सवा सेर जो मिल गया और छिड़ गया महाभारत। एक ओर मिस्टर खैरातीलाल 'डेमफूल' और 'नानसेंस' से 'इफर-बगर' जैसे अल्फाजों तक आ पहुंचे थे और दूसरी ओर दरवाजे के ऊपर से ससुराल की औरतें देशी-परदेशी गालियों के सुगन्धमय फूल बरसा रहीं थीं दामाद के स्वागत में।

बुजुर्गवार की हालत अजीबोगरीब थी। वे सवालिया जुमला की तरह जड़वत खड़े थे और इस हकीकत के तमाशबीन थे आस-पड़ोस में रहने वाले।

गर्ज यह है कि जमाईलाल बेरुखी सी दिखाते हुए चले गए।

इसके बाद क्या हुआ, इसे अनकहा ही रहने दीजिए। लोगों का ऐसा कहना है कि ऐसे तमाशे और भी हुए जिनमें मिस्टर खैरातीलाल ने नायक का अभिनय सफलता एवं कुशलतापूर्वक किया और हमारा ख्याल है कि बहुत जल्द ही वे ससुराल के दामादों की प्रतियोगिता में कोई शील्ड या तगमा जीत लेंगे और विजयश्री का सेहरा उन्हीं के माथे पर सुशोभित होगा।

आइये, अब जनाब बरसातीलाल तखल्लुस 'फिसड्डी' की कारगुजारी पर भी थोड़ा गौर फरमाइये। ये मिस्टर खैरातीलाल से बहुत आगे बढ़-चढ़े हैं। ससुराल तो इनकी लंगोटी के साथ बंधा हुआ है और ये बंधे हुए हैं पत्नी के लहंगे के फीते से। आपकी तारीफ के लिए नये लफ्जों के लिए तलाश-कमेटी बैठानी पड़ेगी क्योंकि आप फैशन की कठपुतली, शक्लसूरत से इंजिन के ड्राइवर और नाजो-नखरों में अनार कली के खिदमतगार तथा बूटपालिश करने वालों की सोसायटी के चेयरमैन हैं।

सुना है आपकी ससुराल में बड़ी धाक जमी हुई है। मजाल है आपकी इज्जत-अफजाही में कोई कमी रह जाये।

तो साहब बरसातीलाल जी की कारगुजारी को लेकर एक घटना याद हो आई। एक दिन वे तीन घण्टे तक मोटर में परेशान होकर आखिर ससुराल आ ही पहुंचे। जंवाई लाल को आया देखकर ससुराल के बच्चे इधर-उधर भागने लगे और घर में कुछ क्षण के लिए चिड़ी-चुप हो गई। जब जवाईलाल सास के कमरे में पहुंचे तो इज्जत आबरू की ओढनी से अपने को ढोंढी हुई सास ने मुस्करा कर खुशी प्रकट की। लेकिन जवाई लाल तो जवाई थे। साले और सालियों की पेशियां होने लगी और जिस तरह रोग छिपाये नहीं छिपते, धन छिपाये नहीं छिपता, कमजोरियां छिपाने से नहीं छिपतीं, उसी तरह मिस्टर बरसातीलाल ससुराल में किसी के

छिपाये नहीं छिप सके। जिस तरह दलाल माल बिकाने के लिए, शराबी पीने-पिलाने के लिए हर कीमत पर तैयार हो जाता है उसी प्रकार बरसाती लाल भी पास-पड़ोस के दस नम्बरियों को बुलाने के लिए दो चार ठल्ले मारने के लिए और बातों की एड़ लगाने के लिए किसी मित्र की ससुराल की छत से आवाज लगाने के लिए तैयार हो गए। तभी साल-सालियों की पलटन खिसियाती हुई, भय खाती हुई, बाजोट और भोजन का थाल लिये आ पहुंची। ज्यों ही जवाईलाल ने 'नजर' फेंकी कि उनकी भौंह तन गई। खाने के साथ शराब और कबाब नदारद थे। बरसातीलाल को बिना शराब के 'हर दावत' सूनी-सूनी और फीकी-फीकी सी लगती थी। इसलिए उन्होंने बर्तनों से खेलना शुरू किया। सब्जी की कटोरियां इधर-उधर बिखर गयीं। ससुर साहब ने देखा—भोजन का थाल उल्टा पड़ा था। उन्हें लगा, जैसे किसी ने लड़की तो देख ली, मगर शादी से इन्कार भी कर दिया।

""और सुबह सौ गालियों का बोरा बिस्तर समेटे जनाब बरसाती लाल वापस अपने शहर लौट गये। इस तरह दोनों हजरत खैरातीलाल और जनाब बरसातीलाल एक ही सिक्के के दो पहलू निकले। दोनों ही तजुर्बेकार, जरूरत से ज्यादा अक्लमन्द और छोटी उम्र में ही बुजुर्गवार हो चले थे।



फुरसती भक्तों के भगवान

प्रातः सूर्योदय के साथ या गोधूली बेला के बाद देश के मन्दिरों में भगवान के दर्शन भव्य झांकियों के साथ भक्त जन करते रहे हैं, वे भी जो अपने क्रिया-कलापों की ऊंच-नीच और घटत-बढ़त में मशगुल रहते हैं या फिर आठों याम किसी न किसी उधेड़बुन में हारे थके से अथवा चक्र-कुचक्र को जीते हैं। मसलन भगवान के दर्शन करना उनके लिए जीवन में नियम-सा है, किन्तु वे उसे फुर्सत के साथ ही करना पसन्द करते हैं। जैसे सुबह आठ बजे की झांकी नहीं कर सके तो कोई बात नहीं झांकी ही तो करनी है रात पौने नौ की ही सही। और जूते के फीते खोलने कोई दिक्कत है तो भगवान की प्रतिमा से दूर खड़े होकर दर्शन करना भी वे उचित समझते हैं। उनकी दृष्टि में भगवान तो उनके हैं चाहे देहरी छूकर पूजो, चाहे घंटियां बजाकर, चाहे गा-बजाकर या भाल पर बिन्दी लगाकर अथवा प्रसाद पाकर वे अपनी सुविधानुसार चाहे—अनचाहे खातिर भगवान के दर्शन तो करते ही हैं। यह और बात है कि वे पट बन्द होने की दशा में भी दर्शन कर लेते हैं और पट खुलने पर आंख मूंद कर भी।

महिलाओं का तो अपना ही तौर-तरीका है। वे भगवान के दर्शन करते वक्त मान-मनौतियों, जात-जडूलों, गुणगान और भजन गाती-गाती भी अपने साथ बैठी महिलाओं से बतिया कर बच्चों की शादियां भी तय करा लेती हैं। लेकिन यह सब भगवान की झांकी के समय ही होता है—यह बोलते हुए कि भगवान की ऐसी ही मंशा है या कृपा है। पुरुष झांकी की भीड़ में भी ताक-झांक का समय निकाल लेते हैं अर्थात् भगवान की मुखाकृति से पूर्व कोई दूसरी आकृति उनकी आंखों में रची-बसी होती है और वे भगवान के जयकार के साथ अभिसार से भी जुड़ जाते हैं। उनकी देखा-देखी भगवान कहां देखते हैं और अगर देख भी लें तो कहां पकड़ते हैं। मन्दिरों में धार्मिक आस्था और आध्यात्मिक परिवेश में क्या नहीं

होगा और जो होता है वही तो भगवान की झांकी है। और साहब झांकी तो झांकी है, भगवान की तरफ झांक लिए तो झांकी हो गई और नहीं झांक पाए तो मन्दिर तो हो आए।

हमारे सामाजिक और धार्मिक जीवन में मन्दिरों को स्वर्गिक अनुभूतियों का तीर्थ स्थल जैसा महत्त्व दिया गया है और कहा तो यहां तक गया है कि जहां मन्दिर नहीं वहां कुछ नहीं। भगवान का मन्दिर पावनता की कसौटी है। भगवान के दर्शन डूबते जीवन से उबरने का मार्ग है और विश्व में कहीं कोई सन्मार्ग है तो मन्दिरों का मार्ग ही है। सैकड़ों दर्शनार्थी हर दिन बड़े मन्दिरों में और पचासों छोटे मन्दिरों में जाने में आस्था रखते हैं। यदि उनका जाना मन्दिरों तक नहीं हो पाए तो वे किसी भी बाजार-गली के नुक्कड़ और मोहल्ले में खड़े हो आंख बन्द कर भी भगवान के दर्शन कर सकते हैं भला इससे बड़ी सुविधा भक्तजनों के लिए क्या होगी ? उन्हें मन्दिर तक भी न जाना पड़े और भगवान अधीनस्थ कर्मचारी की तरह सामने आ खड़े हों। यदि भगवान पर कोई पाबन्दी नहीं है और किसी के बुलाने पर भी उपस्थित हो सकते हैं, बशर्ते कोई उन्हें याद करे।

आजकल मन्दिर जूतियों की चोरी के भी बड़े केन्द्र हैं, जहां से पुरानी जूतियां छोड़कर नई उठाई जा सकती है और इस सबको भगवान नहीं देखता। भगवान तो आस्था का प्रतीक रह गया है और इसीलिए भगवान के दर्शन करते वक्त भक्त जनों को अपनी आस्था से अधिक जूतियां खो जाने का डर रहता है। शायद इसीलिए वे जूतियां खोलना पसन्द नहीं करते।

आजकल भक्तजन मित्रों और परिचितों की तरह रास्ते में स्थित छोटे मन्दिरों को स्कूटर अथवा साइकिलों पर चलते हुए नमन कर लेते हैं जैसे तो भगवान को भी वे मित्रों व परिचितों की तरह 'गुड बाई' करते हों।

कहते हैं मन्दिरों में जाने से आत्मा का शुद्धिकरण हो जाता है और व्यक्ति ब्रह्म की ओर उन्मुख हो जाता है लेकिन देखा यह जाता है कि चुने जाने के सारे कार्य मन्दिर क्षेत्र में ही होते हैं। न व्यक्ति ब्रह्म से

मिलता है और न ही ब्रह्मा व्यक्ति की भक्ति पर विचारता है। दरअसल व्यक्ति का कलर इस कदर फीका पड़ गया है कि भगवान का कलर उस पर चढ़ता ही नहीं और भक्त जैसा चाहता है उसी कलर में भगवान को रखता है। पूजा भी एक औपचारिकता रह गई है और भगवान पर पुष्प चढ़ाने जितने पैसे भक्त की जेब में हर रोज नहीं रहते। वह तो पैसों से नहीं हाड़-मांस के श्रम से भगवान पूजने का आदी है। उधर भगवान के पुजारी मिठाई का दोना लाने वाले भक्त को ही श्रद्धालु मानते हैं। फोक-टिया भक्तों के प्रति उनमें सहानुभूति नहीं है। यह बात और है कि मन्दिरों में चढ़ाई जाने वाली मिठाई पुजारियों द्वारा बाजार में पहुंचाई जाकर बिकवा दी जाती है। कोई अन्य भक्त बिकी हुई मिठाई को फिर भगवान के चढ़ा देता है। यानि एक ही मिठाई कई भक्तों द्वारा कई झांकियों में भगवान तक पहुंचती है और पुजारियों द्वारा मिठाई का बेचान बरकरार है।

मन्दिर में पुजारी रच-बस गए हैं और ठाकुर जी की प्रतिमा के लिए बहुत कम स्थान रह गया है जबकि सारे मन्दिर क्षेत्र में पुजारी परिवार निवास करते हैं और उन्हें भी मन्दिर क्षेत्र ना काफी होता है। भक्तजन और पुजारी भगवान का प्रसाद और बिक्री, पुजारी की आमद और भक्तों की श्रद्धा–इस सबके बीच मुगालतों की इतनी बड़ी दुनिया है जहां भक्ति की वास्तविकता बहुत छोटी नजर आती है।

भगवान के मन्दिरों में कीर्तन अब सांस्कृतिक समारोहों से प्र.थक नहीं रह गए हैं। 'मेरे तो गिरधर गोपाल' कह कर कोई भी नृत्य किया जा सकता है और भगवान का मुकुट सिर पर बांध कर कोई भी व्यक्ति हजारों भक्तों से पाव छुआ सकता है।

भगवान के दर्शनों के समय भक्तजनों द्वारा चढ़ावे के रूप में पैसे या रुपये फेंकने अथवा गुप्तदान का भी अजीब रिवाज पुजारियों द्वारा बनाया हुआ है यदि यह मान लिया जाए कि इस राशि का उपयोग मन्दिर के विकास या विस्तार के रूप में हो सकता है तो फिर फेंक कर क्यों? भगवान तो स्वयं दाता हैं उन्हें क्या दिया जाए।

भक्तों की भी लीला अपरम्पार है कि वे भिखारी की तरह भगवान के द्वारे पड़े हैं और इस आशा से कि कोई भक्तजन उनके पेट का पालन करेगा, यह नहीं कि वे कोई कामकाज करें। स्थिति यह है कि बैठे ठाले और निठल्ले लोगों ने भगवान के मन्दिर को पचायत घर समझ रखा है या फिर धर्मशाला। जो जब से टिका हुआ है, कहीं जाता ही नहीं है और भिखारियों की एक बड़ी जमात मन्दिरों मे ऐसे मण्डराती है जैसे बड़े खाने के लिए आकाश में चीलें और यह चील झपट्टा भक्त और भक्तो-के बीच वर्षों से चला आ रहा है। मन्दिर में घुसे कि किसी ने हाथ पसारा, प्रसाद लेकर मुड़े कि सैकड़ों हाथ चारों तरफ हो गए। यह भिक्षावृत्ति मन्दिरों में बड़े विकास पर है। यदि भिखारियों का बस चले तो वे भक्तों के वस्त्र ही उतरवा लें।

अब तो यह भगवान पर ही है कि वह भक्तजनो की मनमानी और फुरसती वृत्ति पर कोई प्रतिबन्ध लगाए और दर्शन के समय ही दर्शन दे।

